विश्व-साहित्य-माला ८

मकड़ियाँ ऐसी क्यों

लेखक
श्री रामसरन शर्मा

विद्या मन्दिर लिमिटेड, नई दिल्ली ।

प्रकाशक

विद्या मन्दिर लिमिटेड,

कनॉट सरकस, नई दिल्ली।

प्रथम बार १९४६ × 1773 × × गोंडल्स प्रेस, नई दिल्ली

प्रकाशक की ओर से

श्री रामसरन शर्मा हिन्दी के नये युग के कहानी-लेखकों में अपना विशेष स्थान रखते हैं। अपनी वर्णन-शैली, शब्द-गठन एवं समाज के विभिन्न रीति-रिवाजों पर चुभते हुए व्यंग्य करने के कारण वे पाठक पर एक अमिट छाप छोड़ देते हैं। उनकी इन कहानियों में हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में दिन प्रति दिन होने वाली घटनाओं के चित्र आपको मिलेंगे। उनका समाधान लेखक ने जिस चातुर्य से किया है, यह हमारे लिखने की बात नहीं। संग्रह आपके हाथ में है। इसको पढ़कर आपको यह स्वयं ही पता लग जायगा। जीवन की यथार्थ अनुभूतियों से ओतःप्रोत यह संग्रह निश्चय ही आपको एक नवीन जीवन, उल्लास और प्रेरणा प्रदान करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

कहानी-क्रम

आज मैं लाडूंगी गुइयाँ

शीला ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर एक बार अपने पति रामेश्वर को देखा। पर, उन आंखों में से झांकती हुई वेदना और अतृप्ति ने रामेश्वर बाबू पर कोई असर नहीं किया।

उन्होंने कोट के बटन बन्द करते हुए कहा, "ज़रा बाहर जा रहा हूँ। लौटने में देर हो, तो इन्तज़ार न करना।"

यह कहकर वह चले गये।

शीला की स्थिर आंखों से हृदय की वेदना उमड़कर बह निकली।

थोड़े ही तो दिन हुए थे ब्याह को। पर, इतने ही दिनों में न जाने उन्हें क्या हो गया था। घर में जैसे जी ही नहीं लगता। सदा बाहर ही रहते थे, आधी रात के बाद तक। न जाने कहां-कहां......

शीला के मन में एक आशङ्का रह-रह कर उठती, जिसे वह डर के मारे वहीं दबा देती थी।

बार-बार शीशा देखकर उसने यह मान लिया था कि वह सुन्दर है, खूब सुन्दर, और फिर रामेश्वर ने स्वयं देखकर ही, पसन्द करके शादी की थी।

फिर न जानें क्यों धीरे-धीरे वह उससे अनमने होगए थे।

और रामेश्वर—अच्छा खासा, सुन्दर नवयुवक। वह खूब समझ रहा था कि इधर-उधर पत्नी को छोड़कर जाना ठीक नहीं है। इतना मूर्ख न था, और न इतना निठुर। पर, वह भी लाचार था। शीला के प्रेम में उसे पहले-पहल तो बेहद सुख—स्वर्ग-सुख मिला था, फिर न जाने कैसे क्या हुआ था कि वही प्रेम कुछ फीका-फीका-सा लगने लगा।

मन को रोकने की बेकार चेष्टा की। पर, फीकेपन से प्राकृतिक अरुचि होती है और शीला उसे बेहद फीकी-सी लगती थी।

लाचारी थी।

शीला मन में सोचती थी कि उसमें क्या कमी है, उसने क्या भूल की कि जिसकी वह इतनी कड़ी सजा दे रहे थे।

सदा ही आंखें मूंदकर उसने उनकी मनचाही की, हां में हां मिलाई। अपनी सारी इच्छाओं को उनकी इच्छा बना दिया। उसने मानो अपने को मिटाकर रामेश्वर में मिला दिया था।

उसे याद न था कि उसने कभी पानी भी बिना रामेश्वर की इच्छा के पिया हो। यह नहीं कि इसमें उसे कष्ट न होता था, पर वह प्रसन्न थी।

डर लगता था कहीं वह नाराज न होजायें। कहीं वह उनके मन से न उतर जाये।

यहां तक कि जब वह उसे रोते छोड़कर रातों गायब रहते थे तब भी उसने कभी भी माथे पर बल न डाले थे। एक बार भी कुछ न कहा था।

कहीं रूठ जायें तो ?

पर यह सब करके भी तो वह उन्हें न पा सकी थी; बल्कि यों कहना चाहिए कि पाकर भी खोती जारही थी।

उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा था।

दोनों ही अनजाने अपने जीवन की धुँधली-सी घाटी से गुजर रहे थे। उन्हें कुछ करना था, किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता थी। पर, वह क्या थी, यह दोनों नहीं जान रहे थे।

जीवन में अपनी राह स्वयं ही खोजनी होती है। पर, कोई खोजे तो कैसे ?

उन्हीं दिनों शीला की एक सहेली का पत्र मिला। वह मिलने आ रही थी। नाम था लता। शीला को कुछ शांति-सी हुई। अन्धेरे में भटकते हुए कुछ भी हाथ आजाने से एक प्रकार का ढाढ़स-सा होजाता है।

लता आई, खिली कमलिनी-सी सुन्दर, तितली-सी चंचल; हृदय का उल्लास शरीर में छलक-सा रहा था।

दोनों सहेलियां टूटकर मिलीं। पर, अपनी प्रसन्नता और लता के रूप में भी शीला वह भेद न पा सकी।

लता भी तो विवाहित थी, पर उसके पति तो......ओह ! उसे कितना चाहते थे, कैसे उसका मुँह जोहा करते थे, यह कहते-कहते उसका मुंह नहीं थकता था।

"हमारा प्रेम तो दिन दूना, रात चौगुना बढ़ रहा है, शीला," वह कहती।

और तभी शीला का मुख म्लान पड़ जाता। वह ज़बर्दस्ती हंसना चाहती, पर मन की ठेस कहीं हंसी से दब सकती है।

लता यह सब देखती। ऊपर से न दिखाई पड़ने पर भी उसे समझने में कठिनाई नहीं हुई। उसकी विश्लेषण शक्ति असाधारण थी।

उसने देखा रामेश्वर और शीला के बीच की दीवार को। लड़की-सी होने पर भी लता की विश्लेषण-शक्ति खूब परिपक्व थी।

पहले तो लता को बड़ा आश्चर्य-सा हुआ। शीला एकदम मानो शास्त्रों के युग की नारी, मानों एक जड़ मिट्टी की मूर्ति हो रही थी, जो केवल अपने पति के झुकाव पर ही झुकती थी। कैसी अपने को मिटा देने की शक्ति और कामना थी, शीला की।

पर, इस पर भी तो रामेश्वर बाबू उखड़े जा रहे थे, किसी दूसरी ओर बहे जारहे थे।

लता ने देख लिया अपनी सखी के जीवन की इस विषम-वेदना को। पर वह कहे क्या और कैसे?

दो-एक बार उसने रामेश्वर बाबू से घुमा-फिराकर बात करनी चाही, पर फल उल्टा ही हुआ। उसने साफ देखा कि उसकी बहस और बातों का फल निकलना तो दूर रहा उल्टे रामेश्वर उसी की तरफ खिंचने लगे।

उनका घूमने जाना छूट गया। घर पर रहकर प्यासे-से लता की बातें सुनते। उनकी आंखों की भूख लता को साफ दीख जाती।

लता डर गई। यह सब क्या होने लगा था? शीला का भला करने जाकर वह शीला के माल की चोर बन गई थी।

जितना ही वह रामेश्वर से बचती, वह उसके निकटतर आते जाते, बिलकुल खिंचे-से, बेबस-से। मानो शीला हो ही नहीं।

लता अपनी रक्षा तो कर सकती थी, पर उसे डर था कि

कहीं शीला यह सब समझ न रही हो। नारी होने के कारण वह खूब समझती थी कि स्त्री की निगाह कैसी भाँपने वाली होती है।

एक दिन—

लता कमरे में अकेली थी। बाल संवार ही चुकी थी और... सहसा रामेश्वर अन्दर चले आये। लता ने चौंककर देखा, मुख पर हवाइयां, आंखों में आग।

न, उसे डर न लगा। डर लगा तो यह कि शीला न देख ले।

"आप!" उसने संयत भाव से कहा।

रामेश्वर के मुख से शब्द न निकले। गला रुंध जो रहा था।

"कहिये?" लता ने फिर पूछा।

एक मिनट रुककर रामेश्वर ने कहा, "सुना है तुम जा रही हो।"

तुम, यह सम्बोधन सुनकर भी लता ने अनसुना कर दिया।

"हां।"

"क्यों?"

"कई दिन हो गए," लता ने कहा, "और फिर यहां रहकर अनिष्ट नहीं करना चाहती।"

"अनिष्ट!" रामेश्वर ने हृदय की सारी शूल आंखों में लाकर कहा, "तुम तो स्वयं इष्ट हो, तुम्हारे रहते अनिष्ट कैसा?"

"क्या इष्ट है और क्या अनिष्ट, यह तो मैं जानती हूँ," लता ने कहा, "और फिर बात ही क्या है, मैं तो मेहमान हूं, घर जाना ही है।"

रामेश्वर ने एक लम्बी सांस ली।

"सुनो," उन्होंने भर्राये गले से कहा, "लता....." कहते

कहते वह आगे बढ़े।

धीरे से लता ने कहा, "आप अस्वस्थ जान पड़ते हैं, जाइये शीला बहिन राह देख रहीं होंगी।"

"शीला," रामेश्वर ने कहा, "वह तो मिट्टी है मिट्टी। उसकी क्या चिन्ता?"

"खैर, तो मैं ही जाती हूं," कहकर लता तेजी से चली गईं।

जाकर देखा शीला अपने कमरे में चुपचाप बैठी है। पत्थर सी। लता को देखकर जरा-सा मुस्कराकर बोली, "दो-चार दिन और ठहर जाओ न लता, ऐसी जल्दी ही क्या है?"

उसके गले में हाथ डालकर लता ने जबाब दिया, "अब जल्दी ही है बहिन! फिर कभी आजाऊंगी।"

कुछ क्षण चुप रहकर शीला ने धीरे-धीरे कहा, "तुम्हारे रहने से वह प्रसन्न रहते हैं...हर्ज ही क्या है, रह जातीं तो अच्छा था...।"

लता हंस पड़ी। बोली, "तुमने एक भूल की है शीला, उसका फल भोग रही हो। जाने से पहले उसे बताये जाती हूं। वह तुम्हें फिर मिल जायंगे।"

शीला उत्सुकता से बोली, "वह क्या है? बताओ न बहिन! प्राण देकर भी......"

"उसकी ज़रूरत न होगी," लता ने कहा। "केवल इतना याद रखना कि स्त्री पति का सहारा होती है, बांध रखने का। पर, यह सहारा अति कोमल हो, जिधर जोर पड़े उधर ही झुक जाय तो पति के लिए वह व्यर्थ ही होगा! सहारा मजबूत होना चाहिए, जो इधर-उधर बहने से ज़बर्दस्ती रोक सके...।"

लता चली गयी।

रामेश्वर शाम को फिर वैसे ही कपड़े पहनकर चलने को जो हुए तो देखा किवाड़ बन्द हैं और शीला अङ्ग-अङ्ग में शरारत भरे हंस रही है।

"यह क्या ?" उन्होंने आश्चर्य से पूछा।

"आज आप कहीं न जा सकेंगे, कहीं भी नहीं, बस," कहते-कहते उसने थोड़ा आगे बढ़कर उनके गले में अपनी बाहें डाल दीं।

"आज मैं लड़ूँगी गुइयां
सइयां को जाने न दूंगी।"

शीला ने रामेश्वर को फिर पा लिया।

कहते वह आगे बढ़े ।

धीरे से लता ने कहा, "आप अस्वस्थ जान पड़ते हैं, जाइये शीला बहिन राह देख रहीं होंगी ।"

"शीला," रामेश्वर ने कहा, "वह तो मिट्टी है मिट्टी । उसकी क्या चिन्ता ?"

"खैर, तो मैं ही जाती हूं," कहकर लता तेजी से चली गई ।

जाकर देखा शीला अपने कमरे में चुपचाप बैठी है । पत्थर सी । लता को देखकर जरा-सा मुस्कराकर बोली, "दो-चार दिन और ठहर जाओ न लता, ऐसी जल्दी ही क्या है ?"

उसके गले में हाथ डालकर लता ने जवाब दिया, "अब जल्दी ही है बहिन ! फिर कभी आजाऊंगी ।"

कुछ क्षण चुप रहकर शीला ने धीरे-धीरे कहा, "तुम्हारे रहने से वह प्रसन्न रहते हैं...हर्ज ही क्या है, रह जातीं तो अच्छा था...।"

लता हंस पड़ी । बोली, "तुमने एक भूल की है शीला, उसका फल भोग रही हो । जाने से पहले उसे बताये जाती हूं । वह तुम्हें फिर मिल जायंगे ।"

शीला उत्सुकता से बोली, " वह क्या है ? बताओ न बहिन ! प्राण देकर भी......"

"उसकी ज़रूरत न होगी," लता ने कहा । "केवल इतना याद रखना कि स्त्री पति का सहारा होती है, बांध रखने का । पर, यह सहारा अति कोमल हो, जिधर जोर पड़े उधर ही झुक जाय तो पति के लिए वह व्यर्थ ही होगा ! सहारा मजबूत होना चाहिए, जो इधर-उधर बहने से ज़बर्दस्ती रोक सके...।"

लता चली गयी ।

रामेश्वर शाम को फिर वैसे ही कपड़े पहनकर चलने को जो हुए तो देखा किवाड़ बन्द हैं और शीला अङ्ग-अङ्ग में शरारत भरे हंस रही है।

"यह क्या ?" उन्होंने आश्चर्य से पूछा।

"आज आप कहीं न जा सकेंगे, कहीं भी नहीं, बस," कहते-कहते उसने थोड़ा आगे बढ़कर उनके गले में अपनी बाहें डाल दीं।

"आज मैं लड़ूँगी गुइयां
सइयां को जाने न दूंगी।"

शीला ने रामेश्वर को फिर पा लिया।

लेखिका

हमारे कालेज में थी वह।

नाम था सरला, लेकिन कितनी शरीर थी। उसकी आंखें हर समय हंसती रहती थीं। होठों से हंसी का फव्वारा छूटा करता था।

गेहुंआ रङ्ग। भूरी आंखें, बड़ी, चमकदार। उनकी पुतली हर समय इधर-उधर घूमा करती थी। मानों एक ओर ठहर कर देख ही न सकती हों।

बेहद चञ्चल। नस-नस में खून की जगह पारा दौड़ रहा हो जैसे।

मैं भी नया ही नया एम० ए० पास करके प्रोफेसर हुआ था।

जवानी के दिन थे। सुबह अभी सुनहली ही होती थी, दिन चमकदार और रात भेद से भरी हुई, एक धुंधला आकर्षण लिये हुए।

मैं सरला के क्लास को पढ़ाया करता था अंगरेज़ी।

वह थर्ड इयर में थी।

रोज नयी लकदक साड़ी, झमझमाते हुए इयर-रिङ्ग और नीचा कटा हुआ जम्पर। चमचमाते हुए जूते से विद्यार्थियों के हृदय को रौंदती हुई वह चलती थी।

मैं सब देखकर भी नहीं देखता था।

क्लास में कभी नोट नहीं लेती थी वह। जम्पर में लगा हुआ छोटा सा पार्कर शायद शोभा के लिए ही था।

और लड़के शायद बजाय लेक्चर सुनने के उधर घूरना ही अच्छा समझते थे।

और सरला भी मुस्कराकर कभी इधर, कभी उधर देख लेती थी।

अङ्ग-अङ्ग फड़कता था उसका।

हां, और अंगरेजी में कमाल था उसे। खूब बोलती थी।

कभी-कभी स्टाफरूम में भी सरला का जिक्र आ ही जाता था।

मैं क्लास में जाकर यही अच्छा समझता था कि उसकी ओर देखा ही न जाय। क्योंकि एक बार देखकर दोबारा देखने की इच्छा होती थी और फिर तीसरी बार।

एक रोज पढ़ाते-पढ़ाते देखा, तो सामने की बेञ्च के लड़के एकटक सरला की ओर देख रहे थे।

हैरान, परेशान-से थे वे।

मैंने भी कनखियों से देखा। सरला किताब में गौर से झुककर देख रही थी। उसका नीचा कटा हुआ जम्पर आगे को लटक रहा था। और........

अन्दर से.........

उसने ब्रेजियरी भी नहीं पहन रखी थी।

मैं हठात् रुक गया पढ़ाते-पढ़ाते।

सरला ने निगाह उठायी। मुझे देखा अपनी ओर देखते हुए।

उसकी आंखें एकबारगी चमकीं।......और मैंने जल्दी से

पढ़ाना शुरू कर दिया।

शर्म से पसीने-पसीने हो रहा था मैं।

इन सब बातों में शायद एक सेकण्ड भी नहीं लगा होगा।

थोड़ी देर बाद मैंने डरते-डरते क्लास की ओर देखा। कहीं लड़कों ने ताड़ तो नहीं लिया था।

जैसे-तैसे घण्टा खत्म हुआ। क्लास से निकलते-निकलते दरवाजे पर देखा, कोई धक्का देकर निकल गया।

वह सरला ही थी।

मैं अगले दिन क्लास में जब घुसा, तो सचमुच मेरे पैर कांप रहे थे।

घुसते ही देखा। सरला की बड़ी-बड़ी आंखें मुझे देखकर हंस पड़ीं।

आज की हंसी में बात ही और थी। कुछ भेद-सा था।

मैं धम से कुर्सी पर बैठ गया।

गला साफ करके बड़ी मुश्किल से मैंने लड़कों को एक लेख लिखने को दिया।

पढ़ाना तो असम्भव ही था।

थोड़ी देर बाद चुपके से देखा, सरला एक मन से लिख रही थी।

रह-रह कर उसके मुंह पर हंसी चमक जाती थी। उसकी आदत जो थी।

मैं भी बैठकर सोचने लगा। सरला कितनी सुन्दर थी, कितनी अप-टू डेट। कितने फर्राटे से अंगरेजी बोलती थी।

घर की भी अच्छी मालूम होती थी। नयी-नयी साड़ियां,

चमचम जूते और कालेज आने-जाने के लिए गाड़ी।

अगर कहीं—! उंह, ऐसा भी कहीं हो सकता है ? एक ग़रीब प्रोफेसर से—असंभव।

पर ऐसा हुआ तो है। प्रोफेसरों ने कई बार कालेज की लड़कियों से शादी तो की है।

लेकिन सरला के लिए......कितनी हंसमुख थी वह...। देखा, तो सरला फिर भी लिख रही थी।

सहसा उसका लेख देखने को तबियत बेचैन हो उठी। न मालूम कैसा लिखती हो ?

"कापियां," मैंने कहा, "घर से देखकर भिजवा दी जायेंगी।"

सरला ने मेरी ओर देखा, शायद दो सेकण्ड तक, तेजी से फिर सफा उलटकर लिखना शुरू कर दिया।

शाम को मैं सरला की कापी लेकर पढ़ने बैठा।

लिखती तो सुन्दर थी।

सफे उलटकर......देखा।

देखकर हृदय धड़धड़ाकर रह गया। जल्दी से उठकर जैसे-तैसे कमरे का दरवाजा बन्द किया।

कापी में मेरे नाम एक पत्र था।

पढ़ने लगा। एक-एक शब्द पढ़कर विश्वास ही नहीं होता था। फिर पढ़ा। सचमुच वह तो मेरे लिए ही था।

क्या सचमुच सरला···?

बार-बार पत्र को पढ़कर भी जी नहीं भरता था।

सरला ने लिखा था। आज भी पत्र मेरे पास है।

प्रिय प्रोफेसर,

तुम्हें पत्र क्यों लिख रही हूं ? शायद तुम न समझ सकोगे। तुमसे एक शिकायत है। तुम क्लास में पढ़ाते वक्त एक बार भी निगाह उठाकर क्यों नहीं देखते ? क्या डर है मुझसे ?

अगर अब न देखा करोगे, तो मैं सचमुच नाराज होजाऊंगी। फिर ? और यह खत ! यह तो मेरा अच्छा खासा पागलपन है, जो तुम्हें लिख रही हूँ।

क्यों, क्या पागलपन से डरते हो ?

तुम्हारी—सरला।

इसके बाद अगले दिन फिर क्लास में गया। खुशी से उत्सुकता से। देखा, सरला चुपचाप बैठी हुई है। उसने मेरी ओर देखा, मानो कुछ पूछ रही हो।

मैंने दिल खोलकर पढ़ाया। शेक्सपियर जो पढ़ाना था।

कई बार सरला को देखा। वही शोखी भरी मुस्कराहट, वही चुलबुलाहट।

फिर ?

फिर भी एक पत्र मिला। कई दिन बाद। तानों से भरा हुआ। मेरी खामोशी पर बड़ी नाराजगी थी उसमें।

उसके बाद फिर मेरे पत्र भी पहुंचने लगे। मुलाकात भी।

उन दुःख-भरी बातों को क्यों दुहराऊं।

मेरे दिन हंसते हुए बीतते थे। रातें जागते हुए।

मैं चुपचाप सरला के प्रेम में डूब गया। सिर से पैर तक बिलकुल।

गर्मियों की छुट्टियां आ रही थीं। मैं सोच रहा था कि हृदय

पक्का करके सरला से पूछ ही लूँ कि कब...?

आज भी याद हैं सब बातें उस दिन की।

मैं कालेज गया था यह तय करके कि आज सरला को सिनेमा के लिए निमन्त्रण दूंगा। फिर सब...

कालेज में सरला नहीं थी।

मालूम हुआ, छुट्टी ले ली थी।

बड़ी परेशानी से दिन कटने लगे। समझ में ही नहीं आता था कि क्या करना चाहिए।

एक दिन सुना, यों ही किसी से, सरला मंसूरी में थी। घर वालों के साथ।

मैंने भी मंसूरी जाने के मनसूबे बांधने शुरू किये।

जाकर खूब ही लड़ूंगा कि खत भी नहीं डाला। बेहद नाराज़ हूँगा। जब वह मनायेगी, तब...।

मैं मंसूरी गया। सरला के यहां भी।

देखते ही वह खिलखिलाकर हंस पड़ी।

इधर-उधर की बातें, हंसी-मज़ाक वगैरह।

लेकिन मैंने गम्भीर बने रहने की कोशिश की।

चलते हुए मैंने कहा, "सरला, मुझे तुमसे कुछ कहना है।"

"फिर कभी," उसने हंसते हुए कहा, "आज तो आप यह चीज ले जाइये, दिल बहलाने को।"

मैंने खुशी-खुशी एक लपेटा हुआ पार्सल ले लिया।

घर आकर देखा। धक् से रह गया।

वह एक किताब थी—'Men in love. How they behave.' (प्रेमान्ध पुरुष और उनका व्यवहार) लिखी थी

सरला की।

उसमें एक अध्याय था प्रोफेसर पर भी...मुझ पर भी। सिर्फ नाम न था। खासा मज़ाक बनाया था।

किताब हाथ से छूट गई। मैं हथेली पर सिर रखकर बैठ गया।

सरला से फिर कभी न मिला, न मिला।

गुलाब का फूल

(१)

इला चौंक पड़ी।

देखा, गाल से टकराकर गुलाब का एक फूल सामने डेस्क पर गिर पड़ा।

इला का मुंह शर्म से लाल हो उठा। जल्दी से देखा, प्रोफेसर क्लास की ओर पीठ किये एकाग्र मन से बोर्ड पर लिख रहे हैं।

उड़ती निगाह पीछे घुमाई। क्लास गुम-सुम लिखने में लीन।

इला ने जल्दी से फूल पर रूमाल डाला, और फूल गायब!

साथ की छात्रायें भी लिखने में लीन थीं। किसी ने भी न देखा।

इला ने सन्तोष की सांस ली। पर गोरे गाल का स्थान, जहां फूल लगा था, अब भी लाल था।

इला का चित्त नोट्स लिखने में नहीं लग रहा था।

क्यों?

इला अभी-अभी तो थर्ड इयर में आई थी। क्लास के एक ओर, सबसे आगे, क्लास की छात्राओं की जगह थी।

और तब—पहले ही दिन से इसी घण्टे में इसी तरह रोज़

एक गुलाब का फूल ! चुपचाप बिना चूके हुए वह लगता था, और बस।

इला ने क्लास के हर लड़के को ग़ौर से देखा, हर एक के विषय में सोचा, पर वह यह न समझ सकी कि कौन है, जो फूल फेंकता है।

अक्सर सारा घण्टा उसने कनखियों से पीछे की ओर देखते हुए बिता दिया, पर फिर भी—वही चुपके से फूल और सन्नाटा।

इला—कॉलेज का चिराग़ इला, अपने धनी बैरिस्टर पिता की इकलौती पुत्री थी। धन, यौवन, सौंदर्य की देवी। उसके निकलने के समय कॉलेज के बरामदे में भीड़ हो जाती थी। उसकी साड़ी का रंग और जम्पर का कट होस्टल में घण्टों विवाद का विषय रहता था।

बीसियों फ़िल्म ख़राब हुए थे, झाड़ी के पीछे से, खम्भे की आड़ से उस रूप-राशि की झलक पकड़ने में।

इला सब जानती थी, सब समझती थी।

कई बार क्लास के फ़ोटो खिंचने के प्रस्ताव हुए, पर इला कभी न आई।

निष्ठुर, पत्थर, संगदिल........न-जाने क्या-क्या कहलाती थी वह।

ऐसी थी इला।

पर इन लगातार गुलाब के फूलों ने उसे परेशान कर दिया था।

इतनी सफ़ाई से निशाना लगता था कि बस—न हाथ हिलने की आहट, न कभी निशाने में फ़र्क़।

इला मन-ही-मन नाराज़ भी होती थी, पर साथ ही इस सफ़ाई की दाद दिये बिना भी न रह सकती थी।

इला ने एक दिन सोचा, एक ख़ास घण्टे में ही तो फूल आता है न ?

तब ?

कॉलेज के दफ्तर में जाकर उस घण्टे में जो नये लड़के थे, उनकी फ़हरिस्त चुपके से देखी।

दर्जनों थे।

यह भी बात न बनी।

फिर ? किसका निशाना इतना साफ़ हो सकता था ? टेनिस-खिलाड़ी का ? क्रिकेट की गेंद फेंकने वाले का ?

इन दोनों का एक भी बढ़िया खिलाड़ी उस क्लास में न था।

अब ?

खीझकर इला रुआंसी हो जाती थी।

अब इस क्लास में वह डरती-सी, सहमी-सी, उत्सुक-सी भी रहती थी।

निगाह मानो कभी-कभी किसी को खोजती।

वह देखती दीन-याचना, भिक्षा, प्रेम, पर कभी वह...वह शरारत नहीं। उसे, फूल फेंकने वाले को, न पहचान पाती थी।

किन्तु फूल...वही लाल-लाल गुलाब का...फक से हमेशा ही ठीक निशाने पर लगता था।

(२)

शहर में आया हुआ था कार्निवल। इला भी गई थी। कॉलेज के विद्यार्थी भी।

इला अनमनी-सी इधर-उधर देख रही थी।

सहसा......!

एक जगह भीड़, उत्सुकता सन्नाटा और कोलाहल। वह भी आगे आई।

देखा, एक नवयुवक, कॉलेज का ही, खेल रहा है, और लगातार जीत रहा है।

गेहुँआ रंग, सुन्दर, लम्बा-सा युवक।

एक बार भी उसने इला की ओर न देखा।

दत्तचित्त खेल में।

इला की आंखें चमक रही थीं। हृदय में धड़कन, माथे पर पसीना।

खेला खत्म हुआ।

खिलाड़ी ने अपनी हंसती हुई आंखें चारों ओर घुमाईं बड़ी-बड़ी, चाय के से रंग की, पर वह इला को न देख सका। वह पीछे हट गई थी।

नवयुवक भीड़ से निकला।

अंधेरे में सहसा आगे बढ़कर इला ने कहा, "मुबारिक हो मि० राजीव! आप खूब खेलते हैं।"

राजीव सहसा अकचका गया। फिर अंधेरे में निगाह गड़ाकर कहा, "ओह! मिस इला!"

और कुछ भी नहीं।

क्यों नहीं?

शायद कुछ घबरा-से गये हों। या कुछ कहना ही न हो।

"मि० राजीव," इला कहती गई, "मैं कई दिन से एक

शख्स की तलाश में थी।"

"जी...ई।"

"आज अचानक ही वह मिल गया है।"

राजीव चुप।

फिर तेज़ी से बोला, "ओह! अच्छी बात है। वास्तव में बेहद खुशी की।" यह कहते-कहते वह मुड़ने लगा।

सहसा इला ने कहा, "देखिए, कल से मुझे गुलाब के फूलों की ज़रूरत न पड़ेगी।"

राजीव हक्का-बक्का-सा खड़ा रह गया।

इला तेज़ी से चली गई। प्रसन्नता से चमकती हुई इला मोटर में जा बैठी, आँखों में विजय का उल्लास लिए।

राजीव ने माथे पर हाथ फेरा। हैरान, परेशान।

(३)

दूसरे दिन इला क्लास में बैठी थी।

पूरा घण्टा बीत गया। इला ने महसूस किया, आज गुलाब का फूल नहीं आया।

और देखा—आज एक लफ्ज़ भी कापी में न लिखा था।

शर्म से लाल होकर इला ने झप से कापी बन्द कर दी।

क्लास से निकलते हुए देखा, राजीव क्लास में न था।

खाली घण्टे में इला बाग में टहला करती थी—नर्म-नर्म घास, सुन्दर फूल, पेड़ों की छाया।

आज भी टहल रही थी कुछ अनमनी-सी, उदास-सी, आंखें फीकी-सी।

सहसा वह खड़ी हो गई।

सामने राजीव।

एक ही दिन में आंखों में गढ़े, मुंह पर हवाइयां-सी।

मानों भारी सदमा पड़ा हो।

इला हिचकिचाकर खड़ी हो गई। चारों ओर देखा, कोई न था। पेड़ों की ओट।

"क्यों," उसने सन्नाटे को भङ्ग करते हुए कहा, "आज आप क्लास......।"

"नहीं, मिस इला," उसने धीरे से कहा, "अब मैं क्लास में न आऊंगा। मैंने कॉलेज छोड़ दिया है।"

इला धक् से रह गई। सांय-सांय करके मानों जमीन तेजी से दौड़ने लगी हो।

"सुनिये तो," राजीव तेजी से बोला, "सिर्फ यह बतला दीजिये। माना कि मैं बड़ा बुरा, बेहूदा आदमी हूँ, पर यह बतलाइये कि आपने कैसे जाना कि मैं ही......?"

"ओह!" इला हंसकर बोली, "कल कार्निवल में देखा था आपको तीर फेंकते हुए। इतना सच्चा निशाना, मैंने देखते ही समझ लिया था कि···हां, पर आपने कॉलेज क्यों छोड़ दिया?"

राजीव उसकी ओर देखता रहा।

"और आपको" इला बोली, "हो क्या गया है?"

राजीव ने धीरे से जेब से एक गुलाब का फूल निकाला।

"यह आपकी भेंट," उसने टूटी अवाज से कहा, "क्योंकि आपने मना कर दिया है, वैसे तो..."

सहसा इला गम्भीर होगई, एकदम —जैसे बारिश से पहले बादल।

राजीव सहम गया।

"अभी नहीं।" इला ने कहा, "शाम को घर लेकर आइयेगा चाय पीने।"

और वह चली गई।

राजीव खड़ा रह गया। फिर...फिर मुस्कराने लगा।

मालिनियां ऐसी बनी

मालिनियां ऐसी बनी, जैसे गेंदा हजारे का फूल...

यह मीठी तान आज भी दूर, समय के धुंधलेपन को चीरकर कानों में गूंज जाती है। तान के ऊपर, इन शब्दों में नाचता, थिरकता एक चित्र आंखों के आगे सजीव होकर उन्हें गीला-गीला सा कर देता है।

अनायास ही मन कह उठता है, सच ही तो मालिनियां *ऐसी बनी...और रक्त में तेजी-सी, इस थके शरीर में जवानी-सी* फिर महसूस होने लगती है।

हां, बात बहुत दिनों की है।

उन दिनों की, जब यौवन ऊषा के समान झांक-झांक कर संसार को देख रहा था।

बाग में, सुनसान दोपहरी में, पढ़ने चला जाया करता था। कालेज की पढ़ाई थी, इम्तिहान पास ही था। वहां बाग में झुके आम की घनी छाया में बैठकर पढ़ना, स्वप्न देखना, सोचना, सभी कुछ अच्छा हो सकता था।

अधिकतर तो सपने देखना और सोचना ही होता था। पढ़ना...पढ़ना, कोर्स की किताबों का'''ऊंह !

पटरी पर चलना किसी को सहज होता है, किसी को कठिन।

तो, उस दिन भी एक मन से घने, हरे पत्तों में कुछ देखने की चेष्टा कर रहा था। सपना कुछ बना-सा था कि—

"मालिनियां ऐसी बनी, जैसे गेंदा हजारे का फूल।"

यह तान कानों में गूंज गयी। मन, सपने को छोड़-छाड़कर उधर ही दौड़ निकला। उठ बैठा और आंखें इधर-उधर दौड़ायीं, कहीं कुछ भी नहीं था।

पर, कोई गाने वाला—या वाली तो होगी ही।

उठकर—जी हां, जवानी में साहस और उत्साह तो होता ही है—चल पड़ा। दबे पांव।

देखा...

पेड़ से ढासना लगाये बैठी थी गाने वाली।

बाग की मालिन...या उसकी लड़की! बहरहाल फटे-से कपड़े...मगर कपड़ों और गाने से भी अधिक आकर्षक था उसका यौवन।

होगी कोई चौदह वर्ष की।

एकटक उसे देखता रहा और सुनता रहा। सुनता रहा, यहां तक कि उसकी निगाह मेरी तरफ मुड़ी और...

खट से होठों ने बन्द होकर गीत को काट दिया। मुख पर न जाने क्या-क्या होगया...लज्जा, सङ्कोच...

मैं चुप। गुम-सुम। कहता भी क्या? पर, कुछ-न-कुछ कहना तो था ही।

"गाओ।" मैंने झिझकते हुए कहा।

वह चुप, मुंह झुकाये।

"बड़ा अच्छा गाती हो, गाओ न," मैंने फिर कहा। उसने

सिर हिला दिया—'न।'

"तब," मैंने हंसकर कहा, "मैं भी यहीं बैठा हूं। गाओगी नहीं, तो जाऊंगा ही नहीं।"

उसके मुख पर बिजली चमक गयी।

"कब तक?" पूछा।

"जब तक गाओगी नहीं। कल...परसों तक..." मैंने कहा।

खैर, मतलब यह कि उसने गाना गाया और मैंने उसे कुछ पुरस्कार भी दिया।

अब आप यह समझ रहे होंगे कि मैं कहूंगा, हमारा साहस बढ़ा और... या फिर यह कि मैंने उसे खरीदकर फेंक दिया।

न, ऐसी कोई भी बात न हुई।

हुआ यह कि मैं उसका रोज ही गाना सुनता। वह भी मुझसे हिल-मिल गयी। मेरी राह देखा करती थी।

और मैं? मैं भी उसके आकर्षण में था, अवश्य। मैंने अपने किसी भी साथी को उस बाग़ का पता नहीं दे रखा था।

परीक्षा हुई। परीक्षा के दिनों में भी वहां जाता था—यों ही एक अनजाने आकर्षण के वशीभूत। और, उसे भी परीक्षा में कुछ दिलचस्पी थी।

उस दिन मुझे जाना था। गर्मियों की छुट्टी में घर। उसे भी मालूम था।

मैंने कहा, "गाओ।"

"क्या?"

"वही गीत—मालिनियां वाला।"

वह गाने लगी।

मैं सुनता रहा।

गाना समाप्त। समय बीतता गया।

"चलूं, मालिन!" मैंने कहा।

"जाओगे, बाबूजी?" उसने धीरे से कहा। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें बड़े संयत भाव से मुझ पर जमी हुई थीं।

"फिर आओगे?" उसने पूछा।

"हां," मैंने कहा—यों ही। कौन जाने, आऊंगा या नहीं—कह देने में क्या हर्ज है। मैंने कह दिया।

मैं चला आया। वह चुपचाप, पेड़ के नीचे, ठीक उसी जगह से मुझे देर तक देखती रही, यह मैं खूब जानता हूँ।

फिर?

फिर घर, परीक्षा-फल। पास होने पर शादी और नौकरी।

मालिन की याद आई-गई-सी होगयी।

कई साल बाद एक दिन श्रीमती जी के साथ उसी शहर में आना पड़ा। एक भूली-सी याद आई। मन ने कहा, चलो भी।

देवी जी के साथ हवाखोरी को चल दिया। घूम-फिरकर उसी बाग के निकट पहुँचा।

"यहां पर मैं रोज इम्तिहान की तैयारी किया करता था," मैंने कहा।

"सुन्दर बाग है," उन्होंने कहा, "चलो अन्दर चलें।"

अन्दर गये कि एक हल्की-सी तान कानों में गूंज गई।

मालिनियां ऐसी बनी...

मन में थिरकन-सी हुई। आकर्षण बढ़ा। मैं आगे बढ़ता गया, खिंचा-सा।

पेड़ के नीचे, उसी झुके आम के नीचे, मालिन गा रही थी। हां, वही। कुछ बड़ी-सी, उम्र में बदली-सी, पर वही।

"मालिन!" मेरे मुंह से निकल गया।

गाना रुक गया।

"कौन?" उसने चौंककर देखा। फिर...

"ओह! आप। आइये बाबूजी!" उसने उतावली से कहा, खड़े होकर, "बहुत दिन बाद आये।"

फिर देखा देवी जी को।

"बहूजी," उसने कहा, "आइये, हमारे बड़े भाग हैं। आइये न।"

मैं देख रहा था पेड़ के नीचे की साफ-सुथरी जगह को और मुड़कर देखा देवी जी को। जो हम दोनों को देख रही थीं।

कुछ देर इधर-उधर की बातें कीं। मालिन का हाल पूछा। पर, देवीजी गुम-सुम रहीं।

चलते समय मालिन ने कहा, "फिर आइयेगा, बाबूजी?"

धीरे से मैंने कहा, "देखो..."

मालिन ने मुझे देखा और देखा गुम-सुम देवीजी को। एक आह उसके अन्तर से निकली—मैं बड़े ध्यान से उसे देख जो रहा था—और उसने कहा, "अच्छा।"

हम चले आये। मन भारी, तन थका-सा।

"तो यही है तुम्हारी मालिन।" देवी जी ने कहा।

मैं चुप। कहना था ही क्या? इन शब्दों के पीछे छिपी लाञ्छना, भर्त्सना, अमूल होने पर भी तो पीड़ा दे सकती थी। फिर, सच कह दूं, मुझे भी देवी जी के व्यवहार से कुछ दुःख हो

रहा था। क्यों उन्होंने मालिन से ऐसा रूखा व्यवहार किया...
और यह सन्देह!

सन्देह का मूलोच्छेद कौन कर सकता है?

और प्रेम अविश्वासी होता है क्या? कौन जाने?

दिन बीतते गये। महीने वर्षों में बदलते गये, पर देवी जी का सन्देह न मिटा। मैंने थोड़ी-सी चेष्टा भी की, फिर...क्या करता। चुप हो रहा। मन की वेदना मन में—

हां, दिन बीतते गये। बच्चे बड़े हुए, बच्चियां युवतियां होगयीं।

मैं बूढ़ा-सा।

देवी जी नहीं थीं। अपना सारा सन्देह और शंका लिये ही वह संसार से चली गईं।

बच्चों का अपना जीवन था, मैं उसमें बेकार-सा, एक प्रकार से कल की छाप आज पर-सा था। ठीक भी है, संसार यौवन का होता है, आज का। बीते कल का नहीं।

हां, ठीक है। एक बार फिर वहीं जाना पड़ा था। उसी नगर में। वहां गया तो बाग में भी जाना ही था। आकर्षण जो था... किसका? अपना या मालिन का या आम के पेड़ के नीचे की सुथरी जमीन का?

तीसरा पहर था। जाड़े की धूप सोना बिखेर रही। और बाग़ में घुसते ही सुना—

मालिनियां ऐसी बनी...

धीरे-धीरे जाकर सुनने लगा, मालिन गा रही थी। मालिन! एक वृद्धा-सी औरत...

हृदय सहम-सा गया। कुछ डूबने-सा लगा।

"मालिन !" मैंने धड़कते हुए हृदय से कहा।

चौंककर वह मुड़ी। कुछ क्षण तक गौर से देखा, फिर मुस्कराकर बोली, "बाबू जी !"

हां, यह वही थी ! वही !

ओफ !

"आइये," उसने कहा, "बहुत दिन बाद आये। कितने बदल गये हैं आप, अब तो।"

हृत्पिण्ड में फिर एक धक्का-सा लगा। सच ही तो, मैं भी तो बदल गया था। बूढ़ा हो गया था।

"बहू जी कहां हैं ?" उसने पूछा।

मैंने आकाश की ओर हाथ उठा दिया।

एक क्षण वह चुप रही। न जाने उस क्षण में क्या-क्या उसके मन में घूम गया होगा। कहना, अनकहना सब कुछ।

"अपना पेड़ देखियेगा ?" सहसा उसने मेरी आंखों में आंखें जमाकर कहा।

"हां।"

हम चल दिये। पेड़ के—उसी आम के पेड़ के—नीचे अब भी साफ-सुथरा था...और

सहसा मैंने पूछा, "तुम्हारा माली कहां है ?"

वह एकटक मेरी ओर देखने लगी।

"माली !" उसने धीरे से कहा। फिर धीरे से बोली, "माली नहीं है।"

"यानी ?"

उसने सिर हिला कर कहा, "मैंने ब्याह ही नहीं किया।"

"क्यों?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

उसने टकटकी बांधकर मेरी आंखों में आंखें डाल दीं। न जाने कितने अव्यक्त भाव सरसराकर मेरे मन में उतर आये।

"मालिन!" मैंने धीरे से कहा।

"बाबू जी।"

ऊपर देखा। पेड़ के पीले, सूखे पत्ते—पतझड़ था न—सुनहरी धूप में चमक रहे थे, हंस रहे थे।

हां, सच ही मालिनियां ऐसी बनी, जैसे गेंदा हजारे का फूल।

—oo—

रोमान्स

मई का महीना। दोपहरी। भयानक गर्मी और लू। धूल के बवण्डर आंख, नाक, कान में घुसने का मानो निश्चय किये थे।

तक़दीर का मारा मैं उस छोटे से स्टेशन की ओर चला आ रहा था।

गरम धूल से भरी कच्ची सड़क पर पांव झुलस रहे थे। हरा चश्मा और टोप भी उस लपट को कम करने में असमर्थ थे।

पसीना, प्यास, गर्मी।

फिर भी जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये। कहीं घड़ी ग़लत न हो और गाड़ी छूट न गई हो।

ओह! बड़ी मुश्किल से मंजिल तय हुई।

आकर देखा, छोटा-सा स्टेशन और उस पर मरघट का-सा सन्नाटा।

सोते हुए बाबू जी से गाड़ी का वक्त पूछा। दो बार पूछने पर उन्होंने आराम कुर्सी पर लेटे-लेटे बतलाया, "अभी आधा घण्टा है।" फिर आंखें बन्द कर लीं।

मैंने एक सिगरेट जला ली और प्लेटफार्म पर इधर से उधर टहलना शुरू कर दिया।

फिर वेटिंग रूम के सामने से निकला। छोटा-सा कमरा था—नाम था बड़ा-सा।

दो चार बार घूमने के बाद निगाह पड़ी जाली के दर्वाजे की ओर, चूड़ियों की खनक से खिंचकर!

कालेज का जमाना था, रोमान्स की चारों ओर सम्भावना और खोज!

ठिठककर सुना, फिर कुछ नहीं।

बोर्ड पर देखा—वेटिंग रूम स्त्रियों का नहीं था।

तब माथे का पसीना पोंछा रूमाल से, हैट उतारा और धड़कते कलेजे से अन्दर घुसा।

दर्वाजा पीछे से आप ही बन्द हुआ। मैं बन्द कर ही नहीं सकता था।

सामने तो कुर्सी पर उपन्यासों की नायिका और कविता की एक मूर्ति बैठी थी।

फ़ीरोज़ी साड़ी, अस्तव्यस्त, पतला-सा जम्पर और मुख पर पसीने की छोटी-छोटी बूंदें।

मुझे देखा, और अनदेखा कर दिया। मानों मैं था ही नहीं।

अन्दर आकर मैंने भी एक कुर्सी हथिया ली और चारों ओर दीवालों को कई बार देख लिया। पुरी का मन्दिर, श्रीनगर देखने का निमन्त्रण और उदयपुर की झीलें—कई-कई बार देखीं।

फिर दूसरी सिगरेट जला ली।

बातचीत कैसे शुरू की जाय?

चुप रहना तो और भी बुरा था, ऐसा समझिये कि, धीरे-धीरे उनके और अपने बीच की दीवार को मोटी करना था।

पर बात करता भी क्या ? हृदय तो काबू में आता ही न था। उधर पसीना आए ही चला जा रहा था।

उफ़ !

उठकर मैंने टाइम-टेबिल को ग़ौर से देखना शुरू किया। असल में देख रहा था मैं उन्हें, दीवार पर लगे शीशे में।

उन्होंने भी एक बार आइने की ओर देखा और मुंह फेर लिया।

मैं पानी-पानी हो गया।

शायद हल्की-सी मुस्कराहट भी उनके होठों पर आई।

चुपके से कुर्सी पर आकर बैठ गया।

कई उपन्यास ध्यान में आये। किस प्रकार नायक और नायिका मिलते थे। किस प्रकार स्टेशन पर ही नायक नायिका को देखते ही टोप उतारकर कहता था, "मैं आपकी क्या मदद कर सकता हूँ ?"

पर—वे तो अंगरेज़ थे, मैं हिन्दुस्तानी ! और इस [illegible] कुछ करने को था भी नहीं, इसलिये यह सवाल तो महज़ बेवकूफी का ही होता।

फिर ?

अरे ! आध घण्टे में तो गाड़ी आने ही वाली थी। अब तो शायद पन्द्रह ही मिनट रह गये हों।

सहसा मुझे ध्यान आया। ओह—हो ! इतना समय बरबाद कर दिया।

रूमाल से पसीना पोंछते हुए मैंने कहा, "बड़ी गर्मी है।"

उन्होंने एक बार कनखियों से मेरी ओर देखा—कहा कुछ

भी नहीं।

शायद जरा-सी मुस्कराहट !

अब क्या करना चाहिये ?

वक्त बीता जा रहा था।

अच्छा जी, इतने सुन्दर आदमी ऐसे कठोर क्यों होते हैं ? अकेले बैठे हैं गुम सुम, पर......

अकेले ! मैं चौंककर उठ बैठा।

मेरी उस उतावली से वह सकपका-सी गई।

पर मैं तेजी से सोच रहा था। अकेली ! ओह ! ऐसी सुन्दर लड़की अकेली स्टेशन पर क्यों ?

शायद साथ छूट गया हो, अब अगली गाड़ी से—

पर यहां तो कोई गाड़ी नहीं बदली जाती, फिर साथ छूटा कैसे ?

बड़ी कठिन समस्या थी !

सम्भव है कोई कालेज की छात्रा हो, अकेली ही सफर कर रही हो।

लेकिन इस ऊजड़ स्टेशन पर अकेली कैसे ?

कौन-सा रास्ता था ? कौन-सा तरीका था जिससे एक पढ़ी-लिखी लड़की...

पर वह पढ़ी-लिखी तो अवश्य है।

ओह ! तब तो बेकार ही इतना समय बर्बाद किया।

गाड़ी आने ही वाली होगी।

पहले ही बातचीत शुरू की होती तो—तो अब तक तो मित्र होते !

खैर अब सही।

आखिर हिम्मत करके मैंने आगे झुककर पूछा, "आप कहां जायेंगी ?"

हंसकर, हल्के से उसने कहा, "...पुर जाऊंगी। और आप ?"

इस तरह बातचीत शुरू होगई ! मीठी, मीठी, सुन्दर।

कितनी सलीकेदार, सभ्य, पढ़ी-लिखी ! अन्त में, गाड़ी भी आगयी।

हम बाहर आए। बाहर निकलकर खड़े हुए ही थे कि सहसा एक दाढ़ी वाले ने आकर कहा, "आइये"

सुन्दरी ने मेरी ओर देखा और बोली, "चलिये !"

दाढ़ी वाला शायद नौकर है।

मैं और वह एक ही डिब्बे में बैठ गये। और गाड़ी चल दी। खुशी से मैं पागल-सा था। सचमुच का रोमान्स कर डाला था मैंने तो। बहुत दूर निकल आये।

अचानक दाढ़ी वाले ने जेब से सिगरेट-केस निकालकर उनके सामने पेश कर दिया और मुँह से कहा, "बाई जी, लीजिये !"

मैं ठक से रह गया ! 'बाई जी !'

सुन्दरी ने सिगरेट ले ली, फिर मेरी ओर इशारा किया।

मैंने हाथ से मना कर दिया। बोला कुछ नहीं, बोल ही नहीं सकता था।

उसने सिगरेट सुलगाई, एक बार मुंह से थोड़ा धुँआ छोड़ा और मेरी ओर देखकर खिलखिलाकर हंस पड़ी !

मैं खिड़की से सिर निकालकर बाहर का दृश्य देखने लगा।

हाय रे, मेरा रोमान्स !

फूलों का गुच्छा

१९३० की बात है। जी हां, गांधीजी का सत्याग्रह आंदोलन धीरे-धीरे बढ़ रहा था, ठीक जैसे पहाड़ी पतली धारा रास्ते की धाराओं को अपने में मिलाकर महानदी बन जाती है। उपमा पुरानी है; पर जीवन में नया क्या है वही आज ढूंढ़ रहा हूं! अब तक तो मिला नहीं, आगे मिले इसकी आशा मिटते-मिटते अब मिट-सी गई है।

खैर, मैं तब कॉलेज में पढ़ता था। कालेज के विद्वान् प्रोफेसरों की दी हुई विद्या मन में समाई हो या नहीं; पर जवानी अवश्य प्रवेश पागई थी। उसके साथ ही साथ मानो दुनिया में कहीं से न जाने कितनी सुगन्ध, कितना प्रकाश भर गया था।

सत्याग्रह आंदोलन मेरे लिए—हम जैसों के लिए—भगवान् का वरदान बना। जवाहरलाल ने तभी कहा था, "खतरनाक जीवन व्यतीत करो।' सत्याग्रह से अधिक सनसनी, वीरता, शोर कहां मिलता?

शायद कुछ और भी कारण थे। वह कभी फिर लिखूंगा। अब तो इतना ही कह देना है कि मैंने सत्याग्रह को अपना लिया। खद्दर का कुर्ता और झोला डालकर मैं भीनमक-कानून तोड़ने को तत्पर हो गया।

नगर के नेताओं ने हमें निकाला जुलूस में। कालेज के जांनिसार नौजवान जो ठहरे ! आत्म-त्याग की मूर्ति, नाज़ व नखरों से पले—जी, मैं यह वही शब्द कह रहा हूं जो हमारे विषय में कहे गए थे।

जुलूस निकला शहर के बड़े बाज़ारों में। जहां शहर का सब कुछ बिकता है, वहीं ख्याति भी क्यों न बिके ? शहर में बड़ा उत्साह था, हारों और भेंटों के मारे हम पागल हो रहे थे। सुन्दर-सुन्दर नारियों ने टीके करके हमें 'लाम' पर भेजा था।

जुलूस उस बाजार में निकला। जी हां; उसी में, जहां से निकलने पर नवयुवकों की कनखियां और बूढ़ों की आंखें छज्जों पर लगी रह जाती हैं। प्रत्येक छज्जा जगमगा रहा था। जहां-तहां 'वे' फूल लिए खड़ी थीं।

सहसा फूलों का एक गुच्छा आकर मुझसे टकराया। चौंककर मैंने ऊपर देखा और हाथ जोड़ दिए। ऊपर वाले हाथ भी ज़रा हिचककर जुड़ गए। भीड़ में शोर उठा—भारतमाता की जय—और हम आगे बढ़ गए।

पर; उन जुड़े हाथों और हाथ जोड़ने वाली को मैं न भूला। मन ने चाहा एक बार मुड़कर फिर देख लो। लेकिन नेतृत्व के रौब ने गर्दन को सीधी रखा।

छज्जे की मैंने ठीक पहचान कर ली थी। हीरोइन का घर भूल जाने से बढ़कर बेवकूफ़ी शायद ही कोई हो। और; वह सोलह आना हीरोइन थी। एकदम सुन्दर, युवती, पतली, सफेद खद्दर की साड़ी में चमकता मुख—मैं मन ही मन मर मिटा था। बात बड़ी सच्ची है। जवानी में मर मिटने में देर नहीं लगती।

एक तो वेश्या—यानी किसी के मन में नारी को अपना लेने की भावना से जो हिचकिचाहट होती है, उसका यहां स्थान ही न था—फिर खद्दर पहने। निश्चय ही इस बात से मेरा और उसका सामीप्य बढ़ जाता था।

कौन जाने फूलों का गुच्छा जान-बूझकर ही मारा गया हो! बड़ी अच्छी निशाने-बाज़ मालूम पड़ती थी।

भारतमाता की जय! महात्मा गांधी की जय! देश पर मरने-वाले ज़िन्दाबाद...। जुलूस चला जा रहा था।

दूसरे दिन हमें नमक-कानून तोड़ने जाना था।

रात को सत्याग्रह-आश्रम के अंधियारे में मैं सोच रहा था, मान लो शीघ्र ही न लौट सका। मार-पीट, जेल... सब ही कुछ तो सामने आ सकता था। तब यदि उनसे अधिक दिन अलग रहना पड़ा तो...क्यों न अभी जाकर मिल लिया जाय।

पर किसी ने पहचान लिया तो। अभी-अभी तो जुलूस निकलवाकर लौटा हूँ और अभी वेश्या के कोठे पर—वाह! ख़ासा मज़ाक रहेगा! फिर रात भी अधिक होगई थी। शायद वह सोगई हो।

इसी उधेड़बुन में रात बीत गई।

सबेरे ही हम चल दिये। शहर छोड़कर—वहां, जहां नमक बनाने की मिट्टी मिलती थी। रात के जुलूस का असर अभी बाकी था। मन में बैठ गया था कि हम नेता नहीं तो, उससे कुछ ही कम हैं। पर, देहात की सुनसान राह ने थका डाला। चलना हम लोगों के लिये एक मुसीबत होगया। लाचार रेल में बैठकर उस छोटे से कस्बे में पहुंचे जहां नमक का मोर्चा था।

अब नमक कैसे बना, हम पर क्या बीती—वह एक दूसरी ही कहानी है।

हां, एक बात इन तीनों दिनों में बराबर रही। 'उन' का मुखड़ा, वह हाथ जोड़ देने की अदा न भुलाई गई। देशभक्ति के मारे मन को यह कहकर समझा लिया कि ऐसी देश-प्रेमिका से मिलने में कोई हर्ज नहीं है। जो कीचड़ में रहकर भी इतना निष्कलंक दिख सकता है, वह कमल ही तो हो सकता है।

खद्दर की साड़ी...ढेर से फूल...वह भोलापन, ये क्या रंडी में हो सकते हैं! तन से हो तो हो, पर मन से वह रंडी न होगी।

यह था केवल मन बहलावा। उस समय न मानता, पर आज मान लेने में कोई हर्ज नहीं है कि यह सब 'उन' के पास जाने के बहाने मात्र थे।

नमक बनाकर शहर लौटने की जल्दी थी। तीसरे ही दिन वापस आगया। मगर अब?

अब 'उन' के यहां जाना भारी पड़ रहा था। भरे बाज़ार में उनका कमरा था। बाज़ार के लोग तो शायद न भी जानते हों, पर कुछ लोग उस दिन के जुलूस के बाद सूरत अवश्य पहचान गए थे। शाम को उधर से निकलने पर 'नमस्ते' होने लगी। और सच मानिये हर 'नमस्ते' मुझे ज़हर जान पड़ रही थी, वैसे मैं सम्भवतः प्रसन्न ही होता; पर अब तो प्रत्येक 'नमस्ते' उनकी राह में एक कांटा थी।

उस पर ग़ज़ब यह था कि छज्जा भी सूना था।

धीरे-धीरे रात होगई।

जेब में पैसे तो थे। 'उन' जैसी के यहाँ जाने का यह पहला

ही अवसर न था। पर, लगभग पहला ही था। एक आध बार ही पहले गया था, चार दोस्तों के साथ। आज उन लोगों की सहायता लेनी भी असम्भव थी। मैं नेता था, सत्याग्रही था। उनसे कुछ ऊंचा था।

इसी उधेड़बुन में दस बज गए। अप्रैल का महीना होने पर भी, दुकानें बन्द-सी होने लगीं।

मैंने साहस किया।

धड़कते मन को थाम कर, एक लम्बी निगाह सड़क पर डाल कर मैं ज़ीने पर चढ़ गया। वहां एक लम्बी-सी सांस लेकर दबे पांव ऊपर चढ़ा। गला न जाने कैसे सूख गया था; सांस लेना कठिन हो रहा था।

एक बार ऊपर पहुंचकर चुपके से झांका। शायद कोई जाना पहचाना न हो।

कोई न था।

बाई जी—वही—अकेली बैठी थीं, बिजली के प्रकाश में दिपदिपाती हुई; बल्ब के नीचे से ज़रा हटकर, उसकी चमकती किरणों को अपने गोरे मुख पर खेलने देकर।

मैंने नमस्ते की। एक हल्की-सी मुस्कान से वे हाथ फिर ऊपर उठ गए; ठीक उसी प्रकार। फिर ज्यों ही मैं प्रकाश में आया उनके माथे पर सिकुड़न-सी पड़ी। शायद जैसे पहचानने की चेष्टा कर रही हों।

'पहचाना ?' मैंने ज़रा हंसकर पूछा।

'जी...।'

'आपका निशाना अच्छा बैठता है।'

'ओह !' वह हंस पड़ीं। 'बैठिए न ?'

मैं बैठ गया; ज़रा आड़ में होकर। वह समझ गईं और नौकर को कहकर दरवाज़ा बन्द करा दिया।

'आप कैसे राह भूल पड़े,' उन्होंने पूछा।

'एक बार फिर चोट खाने का इरादा है।'

उन्होंने फिर फूल बिखेर दिए।

'आपको मेरे यहां आने पर शायद ताज्जुब हो रहा होगा ?' मैंने पूछा।

'जी, कुछ-कुछ !' उन्होंने कहा। फिर खिलखिलाकर हंस पड़ीं। 'आप तो शायद मेरा नाम भी न जानते होंगे।'

मैं चुप।

'नाचीज़ को गंगा कहते हैं।' उन्होंने कहा।

इसके बाद। इसके बाद इधर-उधर की यहां-वहां की बातें होती रहीं। पर, मैं इतना समझ रहा था कि गंगा कुछ खो रही थी। उसे कुछ परेशानी-सी थी। शायद वह समझ न पा रही थी कि मुझ जैसा देश-भक्त उसके यहां कैसे आया ?

धीरे-धीरे हम घुल-मिल गए। यह हो जाना ही था।

और तब ?

तब मुझे बड़ा आश्चर्य था। सोचता, गंगा वेश्या है, शरीर बेचकर शरीर पालती है। उसके कमरे में नेहरू और गान्धी के चित्र क्यों ? उसे देश से इतनी दिलचस्पी कैसे ? बात समझ में न आती थी।

एक दिन उस बाज़ार के चौराहे पर नमक बनाने की ठनी। मोर्चा जो लेना था। मैं बनाया गया उस जत्थे का नेता।

यह निश्चय था कि जेल तो होगी ही। भरे बाज़ार में नमक बनाना तो सरकार को साफ़ चुनौती देना था।

हम नमक बनाने बैठे।

भीड़ जमा थी, सहमी-सी घबराई-सी भीड़। पर बड़ी उत्सुक।

सामने छज्जे पर गंगा थी। एकटक सब देखती हुई।

सहसा भीड़ छितरा गई। मैंने देखा—पुलिस।

फिर लाठी चार्ज। भीड़ भाग गई। बाज़ार जल्दी-जल्दी बन्द हो गया। और, वेश्याएं कोठों पर आगयीं। लोग दूर से देख रहे थे। पुलिस ने मुझे हिरासत में ले लिया और—लारी की ओर चल पड़ी।

मैंने मुड़कर कहा, 'भाइयो, देश की लाज तुम्हारे हाथ है। नमक यहीं बनेगा।'

और मैं लारी में था। जेल की ओर।

* * * *

तीसरे दिन मुक़दमा हुआ, जेल में ही। सज़ा सुनकर चल ही रहा था कि देखा—और देखकर अकचका गया!

'गंगा!'

वह मुस्करा दी। दोनों ओर वार्डर थे।

'यह क्या?' मैंने पूछा।

'आपका कहना पूरा हुआ,' उसने कहा, 'चौक में नमक बन गया।'

वार्डर ने आगे बढ़ने को कहा।

उसने कहा, 'नमस्ते, फिर मिलेंगे।'

चुपचाप मेरे हाथ उठ गए, श्रद्धा से।

वह कोर्टरूम में चली गई। सफेद साड़ी में, झिझकती-सी।

मेरे मुँह पर न जाने कैसे उस दिन के फूलों की चोट याद आ गई! केवल, इस बार वह कुछ अधिक मीठी, कुछ अधिक अमिट-सी थी।

उसके जाने के बाद

हमारे घर के सामने ही तो घर था उसका। कच्चा, मिट्टी का बना हुआ नीचा-सा।

उसी में रहती थी वह, उसका दस, बारह वर्ष का लड़का और ५—६ साल की लड़की।

नाम था सिताबन।

कोई छब्बीस साल की होगी। सलोना-सा मुंह, पानीदार आंखें और होठों पर सदा ही तो कोई न कोई गाना रहता था।

दिन भर घर को साफ सुथरा करके, शाम को रंगीन, चमकदार धोती पहिन कर वह अपनी खिड़की में बैठ जाती थी।

हमारा घर उसके घर से ऊंचा ही था। छत पर से सब कुछ दीखता था। मुझे तो याद नहीं है कि मैंने कभी उस कच्चे घर को जरा भी मैला देखा हो।

उस छोटी सी आयु में, पिछली लड़ाई के दिनों की बात है यह, भी वह रमणी मुझे कुछ रहस्यमयी-सी लगती। इसका कारण हो सकता है उसका घर में अकेले रहना, या माता जी की आज्ञा कि मैं उसके घर कभी न जाऊं।

क्यों?

छत पर से घण्टों ही तो मैं उसको देखा करता था। न जाने

क्यों ? कभी-कभी कुछ अजीब से लोगों को उसके घर में जाते देखता था...।

मुझे बड़ी उत्कण्ठा थी उसके विषय में कुछ जानने की। पर, जाना जाये तो कैसे ?

हमारा एक नौकर था। बड़ा ही हंसमुख और आज्ञाकारी। मैंने उससे ही पूछना चाहा।

बड़ी कोशिशों के बाद, बीड़ी पीने को कई पैसे देने के बाद उसने बतलाया, यह वादा कराके कि माता जी को न बताऊंगा।

बात यह थी कि सिताबन वेश्या थी। रंडी।

सुनकर मैं तो मानो सहम गया। रंडी ! यह भयंकर जन्तु जिसका सारा काम ही मनुष्यों का नाश करना होता है। ऐसा ही सुन रखा था। वही मैं तब मानता था...अब नहीं मानता हूं। क्यों ? सो जाने दीजिये, फिर कभी बताऊंगा।

हां, तो सिताबन रंडी थी। पर, वह तो हंसोड़, मस्त-सी थी ! ऐसी डरावनी तो थी नहीं।

"पर," नौकर ने कहा, "यह हमेशा से रंडी थोड़े ही थी।"

"ओह ! तब तो...।" मेरे ऊपर से मानों एक बोझ-सा उतर गया, मानों मैं सब कुछ समझ गया था।

असल में कुछ भी न समझा था। पर, नौकर की इस बात ने किसी अज्ञात प्रकार से सिताबन को भयानक रंडियों की पंक्ति से निकाल दिया था।

नौकर ने बतलाया कि सिताबन के पति था। थोड़े दिन हुए तब तक तो था ही।

कई साल दोनों आराम से रहे। सिताबन का लड़का भी बड़ा

होगया था। उसका आदमी भी कुछ मेहनत-मजूरी करता था, उससे ही काम चल जाता था।

इतने में लड़ाई छिड़ गयी।

लड़ाई छिड़ते ही मंहगी भी हो गयी। मजूरी अब काफी न होती थी। साथ ही सिताबन अपने साफ सुथरे रहने की आदत न छोड़ सकी। सफाई में पैसे लगते ही हैं।

एक दिन रात को दोनों में ऐसी ही किसी बात पर लड़ाई होगयी थी। आर्थिक कष्ट मनुष्य को चिड़चिड़ा बना ही देता है।

लड़ाई, शायद जोर की हुई हो।

इतना अवश्य था कि पति ने सिताबन की आदत को छिनालों की आदत बताया था।

सिताबन सम्भवतः यह चोट न सह सकी थी। उसने अपने आदमी के पुरुषत्व, कमाने की योग्यता, पर प्रहार किया।

दूसरे दिन सिताबन ने देखा उसका पति कहीं चला गया था।

दिन भर तो वह समझती रही कि क्रोध घट जाने पर आप ही लौट आयेगा। पर, पूरी रात भी बीत जाने पर उसे चिन्ता हुई।

फिर तो वह सारे में दौड़ती फिरी। रोज ही न जाने कहां-कहां मारी-मारी फिरती—अन्त में उसे मालूम हुआ, कितने दिन बाद, कि वह तो लाम पर चला गया था।

सिताबन धक् से रह गयी।

हाय रे! निर्दयी पुरुष! अब वह कहां जाये इन दो बच्चों को लेकर।

दो चार दिन तो काम चला, फिर भूखों मरने की नौबत

आगयी।

सितांबन ने बहुत कुछ चाहा कि कोई काम करे। पर, काम था ही क्या? जो कुछ थोड़ा बहुत मिल सकता था वह ऐसा कठिन था कि उससे हो ही न सकता था।

और अपने हाथ पैरों को दुखाकर भी तो पेट भरने में कठिनता पड़ती थी।

उधर पास-पड़ोस में चर्चा चली। यार लोग डोरे डालने लगे। सन्देशे आने लगे...सिताबन को लगने लगा मानों एक को खोकर वह कितनों को पा गयी थी।

लाचार, भूख, परेशानी......वही हुआ जो होना था।

आज, इतना बड़ा होने पर समझ रहा हूं कि बेचारी को कैसा कष्ट पड़ा होगा।

उस समय तो नौकर के मुंह से सुन लिया—फिर वह रण्डी बन गयी।

कैसी बनी? क्यों बनी? यह आज समझ में आरहा है।

सिताबन चैन से ही रह रही थी।

एक बार नहीं, अब वह दो बार भी कपड़े बदल सकती थी। मेहनत करके तो वह इतना कभी भी न कर पाती।

ऐसा ही तो हम रोज देखते हैं।

साल भर बाद, एक दिन रात को न जाने कितने बजे... सिताबन के पतिदेव आ धमके।

घर में देखा तो—

उनका पुरुषत्व जाग्रत हो उठा। बेचारी को धुनना शुरू कर दिया।

सहसा ही न जाने क्यों—शायद उसी प्रकार जैसे चींटी दबकर काट खाती है—सिताबन भी बिगड़ खड़ी हुई।

फिर जो उसने चुन चुनकर सुनायीं......

किन्तु पतिदेव यह न समझ सके कि स्त्री को निस्सहाय, दो बच्चों के साथ छोड़ जाने में उनका क्या अपराध था। उसे तो मर जाना चाहिये था, पर उनकी अमानत उनके लिये रख छोड़नी चाहिये थी।

उन्हें सच ही बड़ा दुःख हुआ था यह देखकर कि सिताबन इतनी बेहया थी कि उन्हें जली-कटी सुना रही थी।

वे शायद यह सोचते थे कि वह उनके पैरों पर पड़कर रोयेगी और वे—अन्त में, जी चाहेगा तो—उसे माफ कर देंगे।

"हरामज़ादी, शरमाती तो है नहीं, बोले जाती है," उन्होंने कहा।

सिताबन ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। उसकी कमर लकड़ी की मार से अब भी दर्द कर रही थी। सिर से खून बह रहा था।

अन्त में उसने कहा, "निकल जाओ यहां से एकदम।"

पतिदेव चकरा-से गये। यहां तक।

"जाता हूं," उन्होंने अपना अन्तिम शस्त्र प्रहार किया, "अब तो मेरे नाम को रोना।"

वे चले गये। शायद यही सोचते-सोचते कि सिताबन उन्हें बुला लेगी, अब भी।

उसने न बुलाया।

तीन महीने बाद वह लड़ाई में काम आगये।

सिताबन उनके नाम को न रोयी। उनका अन्तिम वार भी खाली गया।

नौकर से यह कहानी सुनकर तब भी सोचा था, अब भी सोचता हूं—किसी तरह संसार से लड़ाई समाप्त हो सकती है कि नहीं ?

पड़ोसी का दुख

पड़ोस का मकान कितने ही दिनों से खाली पड़ा था। जब तब देवी जी ऊपर छत पर जाकर उसे देखकर ठंडी आह भर लेतीं। वह बन्द, उजाड़ घर देवी जी को काफ़ी कष्ट देता था। कारण यह कि दिन भर घर में अकेली वह ऊब जाती थीं; अपना काम तो रहा कागज़ कलम लेकर जहां-तहाँ की जोड़-तोड़ लगाना। सो दिन भर बातचीत करने में लाचार रहते थे। पर, नारी को तो बात करने को कोई न कोई चाहिये ही।

कभी-कभी देवी जी उकताकर मुझसे ही बात करने की चेष्टा करतीं, पर कहानी की नायिका के फन्दे में फंसा मन घर की मुर्गी को दाल से भी कम ही समझकर मुख मोड़ लेता। अक्सर तो दिन में किसी न किसी पत्र के आफ़िस में कलम घिसनी पड़ती थी।

'अगर इस घर में कोई आजाता तो,' देवी जी कहतीं, 'यह पहाड़-से घण्टे कट जाते।'

यदि मैं हंसी के 'मूड' में हुआ तो तुरन्त ही कह देता, 'यह खुले खजाने पड़ोसी से मन लगाने का इरादा कैसे किया है तुमने?'

देवी जी तुरन्त ही उत्तर देतीं, 'पड़ोसी से नहीं, पड़ोसिन से।'

'मेरी नई कहानी की नई हीरोइन से।'

पर, मेरे लिए बात जितनी हंसी की थी, देवी जी के लिए यह उतनी ही गम्भीर थी। उन्हें तो पड़ोसिन चाहिये ही।

और, एक दिन पड़ोसी आगया। यानी देवी जी ने हंसते हंसते आकर कहा, 'लो भई, पड़ोस का घर आबाद होगया।'

'सच ?' मैंने पूछा, 'कैसी है तुम्हारी सहेली ?'

'अभी यह तो पता नहीं,' उन्होंने आंखें चमकाकर कहा, 'पर, शीघ्र ही पता चल जाएगा।'

उस दिन कई बार श्रीमती जी छत पर गईं। उड़ती निगाह बराबर के घर में कई बार डाली। पर, उन्हें निराशा ही होना पड़ा। उनसे बात करने को कोई भी न मिला।

केवल एक बात हुई, ऐसी कि कम से कम मैं तो आश्चर्य-चकित रह गया। दोपहर के समय मैं कहानी से उलझ रहा था, मन को बांध-बूंधकर ढर्रे पर डाल रहा था, कि सहसा ही बड़े ज़ोर से हारमोनियम का शब्द धड़धड़ाकर कानों में घुस आया। मानो किसी भारी प्रपात के द्वार खुल गए हों। मन में वह शब्द ही शब्द भर गया, कहानी तो एकदम से अन्तर्धान होगई।

बड़ी खीझ हुई। ध्यान देने से समझ में आया कि यह कोलाहल पड़ोस के घर से ही आ रहा है। जान लेने पर मेरी झुंझलाहट पड़ोसी के साथ-साथ देवी जी पर भी बढ़ चली। हाथ से कलम छोड़कर मैंने पुकारा, 'सुनती हो ?'

'क्या है ?'

'अपने पड़ोसी की करतूत। अब भला इस शोर में कोई क्या लिखे ?'

'तो क्या हुआ', देवी जी ने शांति से कहा, 'दो घड़ी

आराम कर लो। बन्द होजाने पर लिख लेना। गाना सुनने से मन भी बहल जाएगा।

पर, वह हारमोनियम की हाय हाय न बन्द होनी थी, न हुई। दोपहर से प्रारम्भ होकर सांझ तक लगातार चलती रही। मेरा तो खून जलकर आधा रह गया।

बात यह है कि मुझे हारमोनियम से वैसे भी बड़ी घृणा है। उसके सुरों में सचमुच ही मुझे कुछ गधे के रेंकने का-सा आनन्द आता है। फिर सोने में सुहागा यह था कि गाने वाला कोई लड़का ही जान पड़ता था, और एकदम अनाड़ी।

गाने के साथ यह तो मानी हुई बात है कि गाने वाला यदि 'वाली' हो और फिर उसे कुछ गाना आता भी हो, तब तो सुनने वाले को आनन्द आसकता है। पर अनाड़ी और पुरुष—और लगातार घण्टों तक चिल्लाने वाले को कौन सहन कर सकता है?

जब दिन भर झख मारकर शाम को मैं आंगन में आया तो देवी जी मिलीं।

'कहो, क्या-क्या लिख डाला आज?' उन्होंने नित्य की भांति पूछा। सदा से वह इस प्रकार मुझे अपने दिन भर के काम की रिव्यू करने का निमन्त्रण देती हैं।

'ख़ाक, पत्थर,' मैंने बताया, 'तुम्हारे पड़ोसी सलामत रहें तो फिर लिखने पढ़ने की तो इतिश्री ही हो जाएगी।'

'यह हारमोनियम?' देवी जी ने कुछ सहानुभूति से पूछा।

मैं चुप रहा। दिन भर के शोर के बाद इस समय वातावरण कुछ ऐसा शान्त होरहा था कि जान पड़ता था मानो दूर किसी पहाड़ की चोटी पर बने मकान में हम बैठे हों, मेरे रोम-रोम में

जो हारमोनियम की सरगम भर रही थी, वह अब धीरे-धीरे निकल कर उसे निस्तब्धता में खोने लगी।

'जो हो,' मैंने देवी जी से कहा, 'अगर पड़ोसी के इस लड़के को हारमोनियम का इतना शौक़ है तो फिर तो मुझे अब से रात भर जागरण ही करना पड़ेगा। तभी कुछ लिखना हो सकेगा।'

शायद देवी जी भी परेशान होगई थीं। बोलीं, 'न जाने कैसे आदमी हैं। सिवाय हारमोनियम के लड़के को कोई और काम तो नहीं जान पड़ता।'

खाना खाकर रात में बैठा ही था कि फिर वही हारमोनियम। रात के सन्नाटे में और भी भयानक, कुरूप; मेरी तो आत्मा कराह उठी। अब क्या होगा? लिखेंगे कैसे? और न लिखेंगे तो खाएंगे क्या?

'मकान बदल न लें,' देवी जी ने धीरे से कहा। उनका नरम नरम हाथ प्रेम से कन्धे पर धरा मुझे सान्त्वना दे रहा था।

'आजकल मकान बदलना?' मैंने पूछा।

सच ही मकान बदलना आजकल क्या सरल है? ऐसा कठिन काम है जितना कि चोला बदलना, शायद उससे भी कठिन।

दो चार दिन में ही दशा यह होगई कि हम पति-पत्नी की बोलचाल बन्द होगई। उस लगातार शोर का राज्य न केवल घर पर होगया था वरन् हमारे मन, प्राण, आपसी सम्बन्ध सब ही उसके सम्मुख सहमे पड़े रहते थे। रात को सोते, दिन को जागते, बस या तो उस शोर की प्रतीक्षा रहती थी या उसका साम्राज्य।

मुझे लगा कि इस तरह तो मैं पागल हो जाऊंगा। कम से कम भूखों तो मरना ही पड़ेगा। न जाने कितनी प्रकार इस कष्ट

का हल सोचा, पर सब बेकार ही रहा। हम मध्यवर्ग के लोग पड़ोसी के काम में कम हस्तक्षेप करते हैं। यही हमारी शिक्षा-दीक्षा है। पर, धीरे-धीरे मुझे लगा मानो वह भद्र पुरुषों के आचार-विचार मुझसे छूटने वाले हैं। मानों मुझे एक बार प्राणपण का बल लगाकर इस भयानक शत्रु को हराना होगा, नहीं तो भूख से प्राण देने पड़ेंगे।

"तुम ही ज़रा पड़ोसी की बीवी को समझाओ न?" मैंने देवीजी से कहा। यह मेरे शिक्षा और सौजन्य का अन्तिम शस्त्र था।

"पर, वहां कोई दिखाई भी दे," उन्होंने कहा।

मैं चौंक पड़ा—'मानों घर में और कोई नहीं है, सिवाय इस हारमोनियम के?'

'दिखाई तो कोई दिया नहीं।'

मेरा सर चकराने लगा—'तब तो निश्चय ही यह मकान किसी पागल ने लिया है। ओफ!'

तभी मानो मुझे चिढ़ाने को हारमोनियम की धुन और भी तीव्र हो गई। कानों की राह वह तीखी छुरी जाकर मस्तिष्क को कुरेदने लगी।

'मैं अभी देखता हूँ,' मैंने चिल्लाकर कहा और पड़ोस के घर की ओर भागा। देवी जी की बौखलाई हुई चीख मुझे न रोक सकी। क्रोध से जलता हुआ मैं एकदम ही पड़ोस के घर में घुस गया।

धड़धड़ाते हुए ऊपर जाकर देखा—एक चारपाई पर एक तेरह चौदह वर्ष का लड़का अधलेटा-सा हारमोनियम बजा रहा है। पास ही एक वृद्धा और एक चौदह पन्द्रह वर्ष की युवती एक मन से काढ़ रही हैं। तीनों ही एकदम तन्मय थे, और मेरे अचानक

आने से जो उन्होंने अपने काम रोककर मेरी ओर देखा तो, मेरे पैर सहसा ही रुक गए।

तीनों के माथे पर पसीना था। तीनों ही मुखों पर एक भारी वेदना की छाप थी। और तीनों ही मानो डरे हुए हों। विशेष रूप से वह युवती। अधिक सुन्दरी न होने पर भी उसमें कुछ ऐसा था—शायद उसका विषाद ही हो—जो बरबस मन को आकुल कर देता था। मैंने उन लोगों को देखा, उस सुन्दरी युवती को देखा, और देखा उन छः आंखों में प्रश्न। मैं चुप, वह भी चुप। मेरा क्रोध उड़ने लगा।

'कहिए?' युवती ने आंखों के प्रश्न को शब्दों में पूछा।

'जी··'जी...मैं आपका पड़ोसी हूँ,' मैंने कुछ अटककर कहा।

'आज्ञा कीजिए।'

आज्ञा कीजिए! क्या आज्ञा करूं? क्या?

'क्षमा कीजिए,' मैंने मन कड़ा करके कहा, 'यह आप रात—दिन हारमोनियम क्यों...?'

युवती की आंखें कुछ चमक-सी उठीं। लड़के ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर मां की ओर, फिर चुपचाप पलंग पर लेट गया।

'बैठिए,' युवती ने कहा।

मैं चटाई पर बैठ गया। वृद्धा अभी भी काढ़े जारही थी।

'क्या काम करते हो बेटा?' अब उसने पूछा।

लाज से मेरा बुरा हाल था। इन्हीं लोगों से मैं लड़ने आया था।

'जी कहानियां, लेख आदि लिखता हूं।'

इस बीच में युवती ने अपने हाथ का काम रख दिया था।

लड़का भी अब कुछ उठ बैठा।

'आप लेखक हैं?' युवती ने कहा।

प्रश्न पर मुझे अपनी शिकायत याद आई।

'आपको हारमोनियम का बड़ा शौक जान पड़ता है?' मैंने कुछ शिकायत, कुछ हंसी से पूछा।

शायद मेरी शिकायत को युवती ताड़ गई, 'आपको कष्ट तो होता होगा, पर हम भी कुछ लाचार-से हैं।'

मैंने देखा उसका मुख सहसा ही बड़ा करुण होगया। बाकी दोनों प्राणी भी दुखी से लगने लगे। कमरे में जैसे किसी काली वस्तु की छाया पड़ने लगी हो।

'यानी?' मैंने पूछा।

'रमेश,' उसने भाई की ओर देखकर धीरे से कहा, 'हारमोनियम सीख रहा है। वह शीघ्र ही सीखना चाहता है।'

मेरी कुछ समझ में न आरहा था। क्यों सीखना चाहता है? जल्दी क्या थी? पढ़ता लिखता क्यों नहीं था?

'यह शायद पढ़ते नहीं हैं?'

कमरे में पड़ती छाया और भी घनी होगई। बालक ने शरीर और मुख मोड़ लिया। युवती एकटक मेरी ओर देख रही थी।

'बात यह है,' उसने धीरे से कहा, 'पिता जी के मरने के बाद घर में पुरुष तो रमेश ही है। इस कारण वह चाहता है कि शीघ्र से शीघ्र वह कमाना आरम्भ कर दे जिससे मुझे और मां को काम न करना पड़े।'

'तो अब आप लोग काढ़कर ही...।' मैं चुप होगया। मुझे लग रहा था कि जैसे कोई तीखी वस्तु हृदय में गड़ रही हो।

'जी।'

'पर, पढ़ने-लिखने से रमेश के कमाने की अच्छी सम्भावना हो सकती है।

'जी, औरों के लिए हो, रमेश के लिए न हो सकेगी।'

मुझे आश्चर्य हुआ। न जाने क्या दुख भरा भेद था इस बात में जो मेरी समझ में ही न आरहा था। क्यों रमेश को पढ़-कर कमाना कठिन होगा? क्यों?

'क्यों?'

युवती उठी। मानों दर्दभरी रागिनी अपने चारों ओर विषाद फैलाती हुई मन्थर गति से चली हो। धीरे से जाकर उसने रमेश के ऊपर से चादर उलट दी। मेरा हृदय धक से मानों रुक गया। मुख से बोल निकलना असम्भव होगया।

रमेश के दोनों पैर कटे थे।

'इसका कारण,' उसकी बहिन ने कहा, 'एक लारी-एक्सीडेण्ट हो गया था।'

* * *

उस दिन से हारमोनियम मुझे अप्रिय नहीं रहा है। अब उस शोर में मैं मज़े में लिख सकता हूँ। यदि शोर न हो तो बेचैनी होती है। उस शोर में कभी-कभी मुझे किसी लारी की घरघराहट और कोई बेबस चीख गूंजती सुन पड़ती है।

और वह पैर—वह बालक का धैर्य जो शीघ्र से शीघ्र लोगों को हारमोनियम सिखाकर, पैसा कमाकर, मां बहिन को आराम देना चाहता है—वह मेरे लिए साहस का प्रतीक बन गया है।

दीवाली के दिन

प्रियतमे,

दीवाली के दिन तुम्हें पत्र लिखना मेरा कर्त्तव्य-सा बन गया है। हर साल जिस समय सारा संसार दिए जलाता है, बच्चे कन्दीलों की जगमगाहट देखकर मगन होते हैं, बूढ़े लक्ष्मी-पूजा करते हैं और जवान दो चार हाथ खेलकर साल भर का सगुन निकालते हैं, मैं तुम्हें पत्र लिखा करता हूँ। पत्र डाक में पड़कर तुम्हें भइया-दूज को मिलता होगा...भइया-दूज! वही तो सारी कठिनाई है, सारी परेशानी की बात है। तुम्हें तो खूब याद होगा कि हमारा रोमान्स ठीक तीन दिन या अढ़ाई दिन कह लूँ—चला था। और उसके बाद ठीक भइया दूज को...ठक से सारा रोमान्स ढह गया था।

पर क्या सचमुच वह ढह गया था? जान पड़ता है जीवन में नष्ट कुछ होता ही नहीं। नहीं तो जिस रोमान्स का कुल जीवन ही थोड़े से घण्टों का हो वह कैसे अपनी अमिट याद छोड़ जाता। अगर वह याद इतनी अमिट न होती तो क्या बिना नागा किए तुम्हारा भेजा टीका और राखी मुझे प्रत्येक भइया-दूज को मिलते? सोचकर हँसी आती है कि जिस समय मेरा चिट्ठी डाकिया तुम्हें देता होगा, तुम्हारे भेजे रोली चावल मुझे मिलते हैं।

अच्छा एक बार इन रोली चावलों के साथ पत्र भी तो लिख भेजो न। देखना चाहता हूं तुम पत्र कैसे आरम्भ करती हो। बस, इतना ही देखना है। मैं तो काफी बेशर्म—या फिर ईमानदार कह लो—हूँ। पत्र को ठीक वैसे ही लिखता हूं जैसे तुम्हें पहिले दिन सोचा था, फिर जाना था। क्योंकि उसे न तो भूल सका हूँ, न ढोंग बनाने का इरादा ही है। इसलिये अब मुझसे तो तुम्हारा राखी वाला सम्बन्ध माना न जाएगा।

शायद मन में तुम्हारे भी चोर है। नहीं तो मेरे पत्रों के बाद मुझे समझने के बाद भी, तुम हर साल राखी न भेजतीं। इस प्रकार जान पड़ता है तुम मन के चोर का गला घोंटकर मार डालना चाहती हो। मार सको तो अच्छी बात है। उस दिन नारी की शक्ति का कुछ और कायल हो जाऊँगा।

वाह, देखो रानी, बराबर की खिड़की से राजा की कन्दील दिख रही है। अरे, तुम्हारे राजा की नहीं। मेरे सुपुत्र का नाम भी राजा ही है। तुम शायद रानी के साथ राजा को जोड़कर...... फिर मुझे समझकर मुंह बना रही थीं। वह बात नहीं है। राजा तो किसी अपनी रानी का होगा, थोड़े से वर्षों बाद। कन्दील सम्हालकर उसकी मां पकड़े है। हरे, नीले, धुंधले प्रकाश में वह ठीक तुम जैसी लग रही है। याद है, आज से सात साल पहिले एक दिन तुम भी ऐसे ही कन्दील सम्हाल रहीं थीं, ऐसा ही प्रकाश तुम्हारे मुख पर पड़ रहा था। तभी खिड़की से मैंने तुम्हें देखा था। जैसे अब अपनी देवीजी को देख रहा हूँ। तुम्हें शायद यह पता न हो, केवल अनुमान भर हो, कि उसी क्षण तुम्हें अपनाने की सोची थी। मन ने चाहा था कि तुम्हारे अटपटे यौवन को

सिहराकर जगा दूं। आज राजा की मां को देखकर यह भावना ही नहीं होती। वह तो जागा यौवन है, अपना है, अपने द्वारा जाग्रत किया गया है।

अच्छा, तुम से बार-बार पूछ चुका हूं कि तुम्हें किसने यह सुझाया था कि हल्की नीली साड़ी पहिनकर तुम खिल उठती हो। जान पड़ता है कमरे के सूनेपन में यौवन और दर्पण एक साथ होकर नारी से जो बात करते हैं, वह नर के कानों तक नहीं जा सकती।

चुपचाप निर्निमेष होकर तुम्हें देख रहा था, उस दिन। भला चाची के यहां मेहमान होकर मुझे काम करने से क्या सरोकार था। यही सोच रहा था कि पूजा हो चुके तो दोस्तों में चलकर कुछ ताश पीटा जाय। तभी पड़ोस से तुम आ पहुँचीं और नन्हे को कन्दील जलाने में सहायता देने लगीं। मैं सोचता हूँ कि अगर तुम आध घण्टे बाद आतीं, या न आतीं तो ? पर शायद तुम इसे प्रीति-पुरातन कह दो, यही तो तुम्हारा स्वभाव है। नारी ने और शायद नर ने भी सदा से अपने मोह भाव को इतना बढाए रखा है कि मानो नियति उसकी ज़रा-ज़रा-सी बात का हिसाब रखती हो। बहर हाल, अगर इससे ही तुम्हारी तुष्टि होती हो तो तुम यही मान सकती हो। मेरे विचार में तो तुम्हारा वहां आना या न आना एक अचानक घटना थी। हां, जब तुमने मुड़कर मुझे देखा था तब जो तुम्हें अचकचाहट हुई थी, उसे यौवन का यौवन से उलझना कह सकते हैं।

न, न, बिगड़ो मत। यह सब मोह, कम्पन, प्रस्वेदन—जो है केवल काम ही तो है। इसे प्रेम, प्रीति, इश्क मिजाज़ी या हक़ीक़ी

जो चाहो, कह लो। पर, यह है केवल 'सेक्स' का आकर्षण। यदि ऐसा न होता तो तुम आज श्रीमती न होतीं और मेरे घर में बाल-बच्चे न होते।

उसी आकर्षण से खिंचकर मैं बाहर आगया था। तुम्हारी जड़ता शायद और भी पूर्ण होगई थी, भागने की इच्छा होकर भाग जाना कठिन था। नन्हा! वह तो शायद कन्दील में मगन था, या कहीं खिसक गया था, अब याद नहीं। कहते हैं कि पहली एयर रेड के समय लोग कपड़े पहिनना तक भूल जाते हैं। अवश्य ही ऐसा होता होगा।

एक बात पूछने को जी कर रहा है, तुम बतलाओगी तो नहीं, शायद लजा जाओ। वही काफी होगा। देखो, मैं तो पुरुष हूँ, मुझ में तो यौन आकर्षण का होना संसार साधारण बात मानता है। पर तुम तो एकदम ही युवती थीं, ब्रेजियर भी न पहनती थीं। फिर तुम्हें यह सूझना कैसे हुई? कैसे तुम रात के धुंधले प्रकाश में एक अपरिचित युवक के पास ठहरी रहीं? सिनेमा देखकर ही यह ज्ञान प्राप्त हुआ था, या उपन्यास पढ़कर, या फिर...जाने दो न बताओ। किसी भी नारी ने यह बात कभी नहीं मानी है।

मैंने तुम्हें देखा। एक दम लज्जा से गठरी बनी जा रही थीं। पर मुख लज्जा से लाल होता है, छिपता नहीं। मुझे लगा मानो दो कन्दील प्रकाशित हों। मैंने यही कह भी दिया।

'दूसरा कन्दील!' तुम चौंककर इधर उधर देखने लगी।

'आप नहीं देख सकेंगी, दूसरे को। मैं देख सकता हूं।'

तुमने बरबस मुझे देखा, मेरी हंसी देखी, मेरी आंखों में तुम्हें दूसरे कन्दील का पता चल गया। तुम्हारी लज्जा की मात्रा बढ़

गई।

'आप कौन हैं?' मैंने पूछा। 'सबेरे तो आपको देखा नहीं था।

'जी।' तुम भागने की चेष्टा करने लगी।

मगर मैं भागने दे सकता था भला। ज़रा आगे बढ़कर नाका-बन्दी कर ली। तुम शायद कुछ भयभीत भी होगईं।

'मैं जाऊंगी,' तुमने कहा।

'क्यों?'

'चाची राह देखती होंगी।'

मैं तुम्हारे रुँधे गले को समझ रहा था। तुम्हारी परेशानी में मज़ा-सा आरहा था।

'और याद में मैं राह देखता रहूँगा' मैंने कहा।

तुम शायद यों ही-सा मुस्कुराईं।

'क्यों?'

और मैंने हाथ पकड़ लिया था। बात बदतमीज़ी की थी। मगर तुमने मुस्कुराकर मुझे मानों दावत दी थी। फिर कालेज के समय का प्रथम रोमान्स था। काफ़ी हद तक मैं भी चेतनाहीन था। जो कुछ कर रहा था, मशीनवत्।

अब आगे न कहूंगा। वे बातें तुम्हारी आंखों में भी फिर रही होंगी। चलते समय तुमने पूजा के बाद ताश खेलने आने का वायदा किया था।

तुम आईं थीं। मेरे मित्र उस दिन मेरी राह ही देखते रहे। साकार, सजीव सौन्दर्य को पाने की कामना के सामने मित्रों का स्नेह बिलकुल ही अन्तर्द्धान हो गया था।

तुम आईं, बेहद देर करके, जब नन्हे के द्वारा तुम्हें बुलाया गया। शायद वह लज्जा थी, या फिर यों ही तड़पा देने की अदा। ···अच्छा, रानी ये अदाएँ तुम लोगों को कौन सिखाता है? शायद आईने में रूप देखकर, जम्पर में उभार महसूस करके अथवा किसी की आंखों की प्यास समझकर ये तुम्हें स्वयं ही आ जाती है। बताओ न? पर, तुम न बताओगी।

ताश का खेल चला। तुम हारीं। हारतीं ही। एक तो खेलने में अनाड़ी, दूसरे कुछ अजीब अटपटाई दशा। मगर ताश के खेल की बात नहीं कर रहा हूं। बात तो उस समय की है जब तुम्हें मैंने कम्बल उढ़ा दिया था, और उस कम्बल में होकर मेरा पैर...हां, यदि प्रेम-पुस्तकों में पग-चुम्बन न हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि उन शास्त्रों के लिखनेवाले कोरे बुद्धू थे।

धीरे-धीरे लोग सोने लगे। मगर न तुम उठीं, न मैं। हाथ-पैरों से बात कर करके हम काफ़ी एक दूसरे के जाने पहिचाने हो चुके।

तभी न जाने मुझे क्या सूझी जो मैंने कह दिया था—'इस बाज़ी पर हमारे प्रेम का दांव है।'

तुम शायद सनसना गईं। कम से कम पत्ते खोलने का तुम्हारा साहस नहीं हो रहा था। तुम्हारी हार हुई थी।

और उस जीत के फल-स्वरूप आंगन के अंधियारे में तुमने दिया था—वही चुम्बन। सच मानो आज अगर कोई वैसा चुम्बन दे तो मैं उसे फीका, नीरस कह दूँगा। न उसमें कला थी, न आत्म-विभोरता। अब तो तुम भी यह समझती होगी। लेकिन उस समय तो वह चुम्बन जाने क्या कुछ था।

दूसरे दिन तो मानो तुम हार बैठी थीं। जब तब मैं हाथ पकड़ लूँ, और जो चाहे कर लूं, दुलरा लूं, तुम्हारी आंखों में झांक लूं, तुम्हें कोई एतराज़ न था। पहले दिन ताश की हार को सचमुच की हार समझ बैठी थीं। बावली, हार-जीत यह एक ही कार्य के दो नाम हैं। कौन हारता है और कौन जीतता है? केवल नियति ही सदा जीतती है।

आज हममें से कौन हारा है और कौन जीता—बता सकती हो? शायद नहीं। तुम अपने नारी होने का बहाना पेश करोगी, तो मैं भी अपनी जिम्मेदारियों का हीला सामने रख दूंगा। अलबत्ता तुम जो एक धोखा देना चाहती हो—मुझे या संसार को नहीं—अपने को, वह सफल होता नहीं दीखता। जब तक दीवाली आएगी, कन्दील जलेंगे, ताश खेला जायेगा, तुम हारी ही रहोगी। *सौ साल तक टीका भेजना भी उस हार को जीत में नहीं बदल* सकता। समझीं!

हां, तो दूसरे दिन तुम दोपहर को आईं। लोग रात भर के जगे, खाना खाकर, सोये पड़े थे। तुमने दिखाना तो यह चाहा था कि जैसे अचानक ही आगई हो, मगर आई थीं, सब सोच समझकर। मैं वैसे ही था जैसे तुम चाहती थीं—यानी, अकेला।

मैंने तुम्हें हाथ पकड़कर बिठा लिया, हालां कि तुमने लौट जाने की-सी कशमकश की।

कुछ देर बातें करते रहे। धीरे-धीरे। फिर बातें बन्द होगईं। बात करने को था ही क्या?...... लेकिन इन सबको छोड़ो। उसे याद करके अब भी एक टीस उठ आती है। वैसे मैं यह टीस-वीस की बात मानता नहीं। समझता हूं यह केवल असन्तुष्ट-

यौन-आकर्षण है। इसके पीछे इससे अधिक मेरी राय में और कुछ भी नहीं है। लेकिन यह जो है इसे भी मैं कुछ कम नहीं मानता। तुम चाहो तो मुझे इस बारे में गन्दा या अश्लील कह सकती हो। पर, तुम ही सोचो जब मैं और तुम मिले तो क्या एक दूसरे से सट जाने की, हाथ, शरीर, सब कुछ एकाकार हो जाने की उत्कट कामना न थी? क्या एक दूसरे के शरीर को देखकर उसे देखते रहने को, भली भांति हृदयङ्गम कर लेने को, मन नहीं करता था? निश्चय ही था। नहीं तो प्रेमी चुम्बन, आलिंगन और सब कुछ, क्यों करते हैं?

यह सब ढोंग बेकार है। असल में प्रथम आकर्षण शारीरिक होता है। या शायद आनुभूतिक भी हो। पर, उस सबका अन्त शारीरिक उत्तेजना पर ही होता है।

सहसा, जब कुछ कहने का अवसर मिला, तो तुमने सहसा मानो भारी साहस करके कह डाला—"पिता जी से कहिए न।"

"क्या?"—मैंने पूछा।

"यही,"—कहकर तुम लजाईं। और उठकर भाग चलीं।

मैंने सोचकर समझा कि तुम्हारे पिताजी से क्या कहूँ?

अगले दिन तुमसे वादा करके, हाथ दबाकर, तुम्हारी आंखों में आंखें डालकर मैं चला आया।

तुम्हारे पिताजी तक सन्देशा पहुँचा भी। पर भला वह कब मानने लगे थे! उन्हें तो अपनी 'रानी' को किसी राजा से ब्याहना था। उसके मन-चाहे 'राजा' से नहीं। उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया।

फिर मैंने सुना तुम कुछ रोईं भी थीं। मगर शादी तुमने

करा ली। यह तुम्हारी समझदारी थी। मनभाया भोजन न मिलने पर भूखों मरना मूर्खता है। पेट भरना ही है।

तुम जब सुसराल से आईं, तब मैं चचा के यहां था। तुम्हें तो सब याद ही होगा कि कैसे तुमने अपने पतिदेव से मुलाक़ात कराई थी। मुझे तो वे बड़े ही सज्जन लगे। सच मानो उनके पास तुम्हें पाकर मुझे बड़ा सुख है। साथ ही तुम भी काफ़ी सुखी जान पड़ती हो। नहीं तो किताबों के अनुसार तो अपने प्रेमी को न पाकर तुम्हें रो-रोकर घुल मरना चाहिये था। लेकिन तुमने वैसा क्यों नहीं किया, जानती हो ? इसलिए नहीं कि तुम चंचल हो, प्रेम करने योग्य नहीं, या बेवफ़ा हो। नहीं, मैं यह कभी न मानूंगा। तुम बड़ी एकनिष्ठ हो। फिर भी तुम पति के साथ सुखी हो, उन्हें प्रेम करती हो।

बात यह है कि तुम्हें जीवन में एक प्रेमी चाहिये। जब तक वह रहेगा तुम उसकी हो, दूसरे की नहीं होने की। तुम्हारे जीवन की सारी भूख प्रेम है। मुझसे मिलता तो ठीक था। दूसरे से मिल गया तो भी ठीक है। असल में यही ठीक भी है। नारी केवल प्रसव का प्रेम चाहती है। जिसका भी उसे अबाध, अनन्त प्रेम मिल सके, उसी में वह अपने को धन्य जानती है। यही उसके पतिव्रत का वास्तविक भेद है। कम-से-कम तुम्हारा। वैसे तो संसार में सब पर एक ही नियम लागू होता नहीं।

तभी से तुमने यह टीके का ढोंग निकाला है। न जाने क्यों ? अपने मन का चोर मारना चाहती हो या मेरा, पता नहीं। तुम्हारे मन का चोर तो मरता नहीं, मेरा तो अमर है ही।

और सच पूछो तो हम उसे मारें भी क्यों ? उसे रहने दें।

उसका रहना बड़ा मीठा लगता है ।

क्यों नहीं तुम, अपने को और मुझे, जैसे हम हैं स्वीकार करतीं ? यह टीका क्यों ? चाहो तो हम लोग जीवन भर न मिलें, पर हमारी मीठी याद में यह धागा कुछ गड़ता-सा है । ज़रा उस बात को सोचना ।

अपने 'उन्हें' मेरा सादर प्रणाम कहना ।

तुम्हारा,
तुम्हारे सपनों में खोया

आलपीन

सामने छोटी-सी लाल डिबिया में ढेर के ढेर आलपीन पड़े हैं। अस्त-व्यस्त, उखड़े-पुखड़े से...ठीक वैसे ही जैसे जाड़े की इस सन्ध्या में मेरे मन में विचार।

ऊबड़-खाबड़ से। चुपचाप, निश्चेष्ट। पर, उनमें हाथ डालकर हिला भर देने से वही मानो सजीव होकर खच् से चुभ जाते हैं।

वह पीड़ा—सी...!—वह रक्त की एक बूंद। लाल। लाल।

कितने ही दिन की बात है। जीवन में तब हास्य था, बसन्त था। आज की भांति गर्मी, बरसात बिताकर जाड़ा न आगया था।

वह भी नई ही आई थीं। वह! हां, वही तो! मेंहदी से हाथ लाल किए, पैरों में बिछुवे...मांग में नया-नया सेंदुर...माथे पर बिन्दी...

और आंखों में वह अलसाया अल्हड़पन-सा। जिसे देख देखकर मैं न अघाता था।

रात आंखों में कट जाती थी, दिन...रात की प्रतीक्षा में।

एक दिन की बात है। भली भांति मन पर अंकित है। कहानी लिखी थी। न जाने कैसे-कैसे समय निकालकर, उन्हें सामने बैठे रहने की कसम देकर।

कहानी समाप्त की।

उन्होंने एक बार अपनी अलसाई आंखों से देखा, और मुस्कराईं।

मैं उस सौन्दर्य को एकटक देख रहा था।

हाथ कागज़ों को पिन से...

ओह!

उन्होंने लपककर देखा।

मेरे हाथ से अंगूठा छुड़ाया।

एक बूंद रक्त चमक रहा था।

जाने क्या हो गया। वह भीत-सी, पानी, पट्टी, टिंक्चर ...न जाने क्या-क्या करने लगीं।

'जाने भी दो,' मैंने हंसकर कहा।

कुछ अच्छा-सा लग रहा था उनका यह घबराना।

पर उन्होंने पट्टी बाँधकर ही छोड़ी।

कुछ दिन बाद —

कालिज छूट गया था। नौकरी की चिन्ता थी।

दो बच्चे होगए थे।

अब उनका वह अलसायापन न जाने कहां चला गया था।

आंखें जब तब उसे टटोलकर भी नहीं पाती थीं।

और उन दिनों कहानी लिखकर ही तो काम चला रहा था।

पर हम दोनों ही—कम से कम मैं—कुछ अभाव-सा प्रतीत करता था। मानो हम दोनों में से कुछ खो गया था।

मन कहता था, वह अब न आएगा।

हां, तो उस दिन भी मैं कहानी लिख रहा था।

वह एक ओर बैठीं कुछ बुन रही थीं।

कहानी समाप्त हुई।

एक साँस लेकर मैंने काग़जों को पिन से...

फिर वही! ओह!

'बहुत लग गई क्या?' उन्होंने बैठे ही बैठे कहा।

'नहीं तो।'

और कहता भी क्या।

'पानी में हाथ डाल लो, या पट्टी ही बांध लो।'

मैंने चुपचाप सुना। एक बार उस रक्त-बिन्दु को देखा—फिर, चुपचाप उसे मसल डाला।

आज आलपिनों की बात चल रही है। कैसे अव्यवस्थित-से पड़े हैं...पर, हाथ डालते ही...

यह तो मानव-स्मृति का हाल है।

आज अकस्मात् ही उसमें हाथ डाल दिया है।

...फिर एक पिन।

आज फिर वही बात हुई।

वह बच्चे को चुप करा रही थीं।

बोलीं, 'क्या हुआ, पिन चुभ गया क्या?'

'हां,' मैंने अंगूठा दबाये हुए कहा।

उन्होंने लेटे ही लेटे उपन्यास पर आंखें जमाते हुए कहा, 'बिना देखे काम करने का यही फल होता है। मैं कहते-कहते थक गई कि देखकर काम किया करो, पर...।'

मैं चुपचाप सुनता रहा।

ठीक तो है। आज, सोचे समझे स्मृति को हाथ से गड़बड़ा

दिया है।

अब पीड़ा तो होगी ही।

लाल-लाल रक्त...

पर, पट्टी कौन बांधे ?

बिना सोचे समझे काम का यही फल होता है।

पेड़ के पत्ते

सड़क के किनारे अकेला खड़ा था वह। सुनसान, कच्ची सड़क घूमती, चक्कर खाती-सी मानो उसके पास से बल खाकर निकल गई थी।

न जाने कितना पुराना था वह पीपल का पेड़।

देहात के उस सूनेपन में अकेला ही अपनी अनगिन भुजायें पसारे एकटक शून्य की ओर, सड़क के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, देखा करता था।

एक दिन—दो बटोही पेड़ के पास आये।

आगे-आगे पुरुष। युवक, तांबे का रंग, कत्थई खादी के कुर्ते में चमकता हुआ सीना।

आंखों में मस्ती। माथे पर टीका। पैर में नया जूता। कन्धे पर गठरी।

पीछे ही लम्बा घूंघट निकाले हुए, छोटी-सी युवती। मेंहदी से रंगे हाथ, गोटेदार लहंगा धूपछांह का, रेशम की ओढ़नी।

युवक हाल की ब्याही बहू को विदा कराकर ला रहा था।

कड़ाके की धूप थी। होली बीत चुकी थी।

युवक ने रुककर, माथे से पसीना पोंछते हुए कहा—

'जरा दम ले लें तो चलेंगे। क्यों?'

उसकी चमकती आंखों ने घूँघट भेदकर युवती का मुख देखने की चेष्टा की। बेकार।

युवती पेड़ के पीछे आड़ में चली गई।

धीरे से मुस्कराता युवक भी पीछे से।

कुछ मिनट बाद—

युवक की गोद में पड़ी युवती ने लज्जा से लाल मुख ऊपर को उठाया। धीरे से बड़ी-बड़ी आँखें खोलीं।

देखा—दो अतृप्त आँखों को और ऊपर पीपल के नये-नये, सुन्दर पत्तों को जो धीरे-धीरे हवा में हिल रहे थे। मस्ताने-से तन्मय-से।

* * * *

कितने ही दिन बाद। एक अधेड़ पुरुष और स्त्री फिर दोपहर को पेड़ के पास आये।

पुरुष, थका-सा, झल्लाया-सा। कंधे के बच्चे को लापरवाही से ज़मीन पर उतारकर बैठ गया।

स्त्री भी बैठी, गोद में दूसरे बच्चे को लिटाकर। वह भी सूखी-सी हो रही थी।

'अरे अब बैठी ही रहेगी,' पति ने झल्लाकर कहा, 'या कुछ खाना-वाना देगी !'

स्त्री ने बेरुखी से कहा, 'तुम ही जो गठरी से निकाल लो। देखते नहीं मुनुवा को...'

बस बात बढ़ ही तो गई।

एक से दो, दूसरी से तीसरी...पुरुष ने खाना फेंक दिया, बच्चे पिट गये, स्त्री के भी...

कहीं उसके मुहं से निकल गया, 'जैसे हाथ फेंकने को चलते

हैं, ऐसे ही जो कमाने को···"

बात पूरी भी न होने पाई थी कि एक जोर का हाथ लगा। वह बेहोश हो गई।

होश आने पर...

सर भारी, बदन में दर्द, आँखें जलती-सी।

उन जलती आँखों से देखा पीपल के पीले, रूखे पत्ते हवा से हिल रहे थे खड़,खड़,खड़...

* * * *

और बहुत दिनों बाद।

दूर से चली आ रही थी वह। लड़खड़ाती-सी, मुर्दा-सी।

ओढ़नी तार-तार। बाल उलझे हुए। हाथ-पैर लकड़ी।

हाँ, ठीक ही तो है। पति की जेल हो गई थी। काम मिलता ही न था, सर मारते-मारते अन्त में उसने वही किया जो करना—जिसका करना पाप है।

चोरी।

उससे भूखे बच्चों का पेट तो भरा, पर—एक दिन वह पकड़ा गया।

फिर—जेल।

और फिर बच्चे भी चले गये। भूखे के घर लाल कहाँ बच सकते हैं?

आज वह भी निकल पड़ी थी।

उसे जाना ही होगा।

कहाँ?

जहां भी जाये।

पेड़ देखकर पैर न उठ सके, धम से आकर बैठ गई।

लेट गई।

गर्मी या धूप या दोनों से चक्कर-सा भी आगया।

सहसा देखा—

उसकी गोद में सर।

हंसती आँखें,

और...और...

बच्चों की चिल्ल-पों। आपस की लड़ाई और ...

उसकी आँखें खुलीं। डूबती-सी, खोई-सी,। शायद आखिरी बार।

देखा—

पीपल में एक भी पत्ता न था। खाली ठूंठ था। पतझड़।

हवा चल रही थी, हू! हू!

उसकी आँखें बन्द हो गईं।

उसके कानों में हू! हू! भी बन्द हो गई।

गुब्बारे

सड़क की पटरी पर खड़ा था गुब्बारे वाला, सामने थी एक टङ्की, जिसमें गैस भरी थी। ऊपर रङ्ग-बिरङ्गे गुब्बारे उड़ रहे थे। तागे से बँधे होने पर भी वे मानो धागा-रूपी नाता तोड़कर उड़ जाना चाहते थे !

चारों ओर बालकों की भीड़ थी, गुब्बारों जैसे ही रङ्गीन कपड़े पहिने। वैसी ही स्वच्छन्दता—मानो...मानो, वे भी उड़ने को उतावले हो रहे थे।

पर, तागे से बँधा कौन उड़ सकता है ?

गुब्बारे कभी गैस भरते समय फट से फूट जाते। पर, इस फूट जाने का गुब्बारे वाले पर कोई असर न दिखाई देता।

निर्विकार भाव से ज़रा-सा कन्धों को उचकाकर, वह दूसरे में गैस भरने लग जाता।

उसने भी—हाँ, उस तितली जैसे सुन्दर बालक ने भी—गुब्बारा लिया।

बेचने वाले ने एक लम्बा-सा डोरा उसके हाथ में दे दिया।

ऊपर मनुष्यों के सिरों से ऊंचा, वह गुब्बारा मानों सबको समान भाव से देखकर इठलाता चला जा रहा था !

मुस्कराता-सा, फूला हुआ।

ग़रीबों के चिथड़ों, अमीरों के ठाठ और बच्चों की ईर्षामयी आंखों का उस पर कोई भी प्रभाव न था।

घर आकर बच्चे ने कहा, "माँ, देखो!"

माँ ने देखा—ऊपर हवा में तैरता हुआ गुब्बारा!

"बड़ा सुन्दर है!" उसने कहा।

सुन्दर वह था ही।

बालक गुब्बारा खूँटी से बाँधकर, माँ के पास सोगया था।

सुनहरी लटें गोरे माथे पर, वह भोलापन, फिर मां की निगाह! माँ का मुख गर्व से खिल उठा।

"कैसा सुन्दर है!" उसने धीरे से कहा। और बच्चे का माथा चूम लिया।

वह स्थिर भाव से सोता रहा।

खूँटी के ठीक ऊपर दीवार से सटा वह गुब्बारा भी एकदम निश्चल था।

* * * *

न जाने कितने दिन बाद—

उस दिन का बालक आज का पिता था। मुख सूखा-सा, सिर के बाल भी खिचड़ी-से होगये थे।

घर की, बाहर की, सारी चिन्ताओं का मानों ठेका ही लिये बैठा था।

बच्चे थे, स्त्री थी और थीं हर रोज़ की समस्याएं।

एक दिन—

उसका पुत्र भी मेला देखने गया।

वह भी गुब्बारा लाया।

बड़ा ही चमकीला, फूला गुब्बारा !

बालक उसे पाकर फूला न समा रहा था ! माँ को, बाप को, सभी को दिखा-दिखाकर मानो चाह रहा था कि वे सब भी उसके खेल में हाथ बंटायें।

पर, बालकों के खेल कहीं बड़ों को भाये हैं ?

इसी पर वह ज़रा कुण्ठित-सा हो जाता था।

पर, एक मिनट के लिए।।

फिर वही...... ।

एक-दो दिन तो गुब्बारा ठीक रहा, उड़ता भी था; पर तीसरे दिन—

"इसे क्या हो गया है ?" बच्चे ने पिता से पूछा।

पिता ने देखा, गुब्बारे में सलवटें पड़ गई थीं। वह ढीला-सा, मरा-सा, निरुत्साह-सा दीख रहा था। मानो जान ही न हो।

तागे को उड़ने के लिये अब वह न खींच सकता था। उसे तोड़ देने पर ही तो वह नीचे को गिरता था।

पहले तो, वह तागे को तोड़कर उड़ जाना चाहता था। पर अब मानो उसी के सहारे रह सकता था।

पिताजी क्या बताते उसे क्या हो गया था ? बताने की बात ही क्या थी ?

जीवन के सत्य बताने से नहीं, अनुभव से आते हैं।

बच्चे ने कहा, "हम दूसरा गुब्बारा लेंगे।"

दूसरा भी आगया।

वैसा ही फूला, तना हुआ !

बच्चा उसे लेकर, उछल रहा था, कूद रहा था छत पर

ओहो !

गुब्बारा ऊपर को⋯और तागा छोड़ने से और भी⋯⋯!

ओह !

गुब्बारा ऊपर को उठता चला जा रहा था।

बच्चे ने रोकर कहा, "वह देखो, वह उड़ गया !"

पिता देख रहे थे।

धुँधली आंखों को गड़ा-गड़ा कर।

आसमान में गुब्बारा हिलता, डोलता, ऊपर को उठता चला जा रहा था !

अकेला, उस शून्य में पूर्णतया एकाकी; पर पूरे मन से, मानो अपना रास्ता खूब जानता हो

कहाँ जा रहा था ?

कौन जाने ?

तागा टूट गया था।

गुब्बारा आंख से ओझल हुआ जारहा था, पिता और पुत्र दोनों देख रहे थे।

—oo✿oo—

दिए की लौ

कलकत्ते के एक फुटपाथ पर ही इस कहानी का आदि और अन्त है।

कुछ दिन पहले इस फुटपाथ पर खड़े रह सकना असम्भव था, कम से कम शाम के समय। आप जानिये फिरपोज़ रेस्टोरेंट के बाहर भीड़ का क्या ठिकाना। रंगी-बिरंगी साड़ियां और सूट, खाकी वर्दियों में मिले-जुले इस फुटपाथ पर ऐसे लगते थे मानों हुगली के मटमैले जल की धारों में श्रद्धालुओं के चढ़ाये फूल बह रहे हों।

सामने फटे हाल रिक्शावाले अपनी घंटियां टुनटुनाते थे—तो टैक्सी ड्राइवर अपनी वर्दी में कसे, अपने ग्राहकों की राह देखा करते थे।

फुटपाथ चुपचाप पड़ा रहता था।

रात को कभी-कभी कोई अलबेला जोड़ा प्रेम में मस्त या शराब में चूर निकलता तो उसकी आंखें शायद ही पास ही पड़े सोए नर-कंकालों पर पड़तीं।

जी हां, तब यह फुटपाथ रात को ही अपने पर बेघर वालों को आश्रय देता था।

पर, दिन बदले। कुछ ऐसे बदले कि कलकत्ता बदल गया।

फ़ुटपाथ भी बदल गया।

बंगाल में खाने की कमी पड़ गई। न जाने कैसे और क्यों बंगाल का सारा अनाज अन्तर्धान होगया। देहात के किसान, अनाज के सेवक अनाज-रहित हो गये।

और तब—कलकत्ता ! सोने की नगरी। बंगाल की राजधानी पर भूखे मरतों का स्वागत कलकत्ते ने रोटी देकर नहीं, पत्थर के फ़ुटपाथों पर मरने की आज्ञा देकर किया।

एक दिन उस फ़ुटपाथ पर फ़िरपोज़ के लकदक रेस्टोरेंट के समीप वे आये। एक बूढ़ा, एक युवक, एक युवती और दो बच्चे। इनका नाता तो आप समझ ही गये होंगे।

परिचय ? भूख से जर्जरित, रोटी की खोज में जो धारा कलकत्ते की ओर बह रही थी उसी में बहकर वे आये थे। और कलकत्ते में भी रोटी न पाकर उनका दम टूट गया था, साहस छूट गया था।

तभी देखा चमचमाता रेस्टोरेंट, सोचा, अमीरों की जूठन तो होती ही होगी। शायद उससे ही पेट भरे। फिर उस विशाल, बीहड़ कलकत्ते में खाली पेट फिरने का दम भी न रहा था।

वहीं पड़ गये। फ़ुटपाथ ने पत्थर के सीने पर उन्हें आश्रय दिया।

पुरुष दोनों चुपचाप बैठ गये। आज उनका युग-युग का पौरुष हार मान रहा था। रोटी देना उनका कर्तव्य था, पर रोटी देना भगवान का भी तो कर्तव्य है।

युवती एक ओर अपनी फटी, मैली धोती को समेटे बैठ रही। निराश आंखों से वह बच्चों को देख रही थी। पेट की ज्वाला से अधिक प्रबल आग उसके मन में जल रही थी। बच्चे भूख

से निढाल हो रहे थे।

बच्चे भी चुप। कहते हैं शरारत बच्चों का स्वभाव है। पर भूख से डरकर उनका बचपन उन्हें छोड़ गया था। अब वे गम्भीर, डरे हुए, जीवन की कटुता से परिचित प्राणी थे।

फुटपाथ पर लोग आ जा रहे थे। कुछ दूर पर और भी एक परिवार पड़ा था, उन जैसा ही। आगे शायद और भी थे। ये नर-कंकाल चुपचाप बैठकर अपनी मौत की राह देख रहे थे।

शायद सरकार में अनाज की कमी पर लिखा-पढ़ी हो रही थी। शायद दूर-दूर बंगाल के लिए चन्दा हो रहा था। पर—

शाम हो रही थी। थोड़ी देर में रात हो जायेगी। फिर अकेले, उघाड़े इसी फुटपाथ पर पड़ना होगा। युवती सोच रही थी वह सोयेगी यहां, मैदान में! पर भूख से नींद आयेगी भला?

छोटे बच्चे ने कहा, "मां प्यास लगी है।"

युवक ने एक लोटा निकाला और सामने नल से पानी लेने चला।

बूढ़े ने आंखें फेर लीं।

युवती की आंखें डबडबा आईं।

वह जानती थी कि बच्चे को प्यास नहीं, भूख लगी है। या अब कई दिन से उसने खाना मांगना बन्द कर दिया था। बच्चे भी मां-बाप की लाचारी समझ ही जाते हैं।

शाम हुई।

अन्धेरा होने लगा।

खाली पेट पानी पीने से बच्चे के पेट में दर्द हो रहा था। पर, दवा के नाम ज़हर भी मिलना असम्भव था, जब जी चाहे

मरने के लिये भी पैसा चाहिए।

फिरपोज़ में लोगों की आवाजाही हो रही थी। खाकी वर्दी में पाउडर से चमकती रमणियां और बिल्लों और तमग़ों से विभूषित अफसर! जनता के लिये जान गंवाने को तत्पर। इनमें खोए से जनता के दुख से दुखी सेठ, साहूकार।

भीतर आरकेस्ट्रा, प्लेटें, शराब—अकाल पर बहस।

बाहर अंधेरे में भूखे पांच प्राणी। पांच, पचास, पचास हजार।

"दादा," युवक ने कहा, "इससे तो मौत आजाए तो भला।"

बूढ़ा एकटक आस्मान को देख रहा था। मौत!

छोटे बच्चे को छाती से लगाए, बड़े को पास सुलाए युवती चुप बैठी थी।

निश्चेष्ट।

"सुना है यहां सदाव्रत बटता है। कल ढूंढेंगे," युवक ने धीरे से कहा।

बूढ़े के मुख से एक लम्बी सांस निकल गई। "भीख ही मांगनी पड़ेगी," उसने कहा। किसान के लिए भीख से बढ़कर और कोई अपमान नहीं होता।

न जाने कितनी देर बीत गई।

सहसा युवती चौंक पड़ी। उसके पास ही जूतों की आहट आ कर रुक गई थी। उसने देखा शराब के नशे में चूर एक पुरुष। हाथ की टार्च युवती के ऊपर चमक गई। आंखों को छिपा कर।

"खाना खाएगी," पुरुष ने कहा, हंसकर, लड़खड़ाकर।

युवती चुप।

"चल उठ, खाना मिल जाएगा।"

युवती की निगाह पड़ी अपने पति पर। पति एकटक शराबी को देख रहा था एकटक। सहसा वह उठ खड़ा हुआ। शराबी से पूछा, "कहां है खाना?"

शराबी ने भूमकर उसे देखा। फिर हाथ ज़ोर से हिलाकर कहा, "तुमको नहीं। इसको खाना देगा।"

किसान की मुट्ठियां बंध गईं। और—

शराबी का नशा हिरन हो गया। वह चला गया।

"साला, बदमाश," कहकर युवक पत्नी के साथ बैठ गया।

घटना-चक्र अब तेज़ी से चला। भूख में जो होता है, जल्दी ही हो जाता है।

दूसरे दिन—छोटे बच्चे ने एक कय करके भूख से छुटकारा पा लिया। आज उन्हें लपसी खाने को मिल सकी थी, पर इतनी ही कि जिससे भूख की यन्त्रणा असह्य हो जाए।

अब वे चार रह गए थे। एकदम कंकाल। डरे, सहमे, मौत की साया में पड़े। आसपास के ऊंचे ऊंचे मकान मानों दानवों की भांति खड़े कलकत्ते की महानता पर हंस रहे थे, फुटपाथ के भूखों की भूख पर अट्टहास कर रहे थे।

और दो दिन गये—

उनमें अब अधिक चलने-फिरने की भी शक्ति न थी। केवल मौत की राह देख रहे थे। बंहगी पर रखकर भात या लपसी बांटने वालों के पास वे जैसे-तैसे जा सकते थे। और बस—

तब एक दिन सुबह, बूढ़े को भी कारपोरेशन के आदमी उठाकर ले गए।

युवक थोड़ा सा रो दिया। पर, तभी याद आया कि समय पर

न पहुंच पाने से लपसी या भात न मिल सकेगा। आंसू सूख गए और—

पिता की मृत्यु पर पुत्र को तेरह दिन तक कर्मकाण्ड करना होता है। पर, यदि तेरह मिनट की देर कर देने पर पुत्र की जान के लाले पड़ते हों तो कर्मकाण्ड की क्या व्यवस्था है सो मुझे नहीं मालूम।

दो दिन बाद—

कलकत्ते में कंदील बिक रहे थे। दिवाली तो मननी ही थी। लोग अगर फुटपाथ पर भूखे मरें तो जिनके घर उन फुटपाथ के पास सर ऊंचा किये हों वे दिवाली भी न मनाएँ ? वाह ! मरने वालों के लिये कहीं जीनेवालों के काम रुके हैं

बच्चे ने कहा, "मां, आज दिवाली है।"

पर यह कहते कहते उसके पतले, जर्जरित मुख पर जो एक मुस्कान आई वह शायद आंसुओं से भी अधिक दयनीय थी। शायद उसकी आंखों के आगे अपना गांव घूम गया हो, अपना घर, अपना पोखर, अपने साथी।

फिर अपने ही पेट ने तड़पकर उस मुस्कान को मिटा दिया।

मां का हृदय सब समझ गया। वह मां थी और थी नारी। इन दिनों में उसने बहुत कुछ देखा और समझा था। पहिली बात जो समझी, वह थी—अपने गांव वापिस जाना, शहर की उस भूख में तो वह, उसका बच्चा, उसका पति सब भस्म हो जायेंगे। उनके तन भी और आत्मा भी।

यहां न मांगकर पेट भर सकता था, न काम करके, न रोकर।

हां, एक ही राह थी पेट भरने की और शायद घर वापस जाने

की। रुपये पाने की।

उस दिन रात को—

बड़ी देर गए।

युवती ने देखा दूर से एक साफ-सुथरा पुरुष आ रहा है। ऐसे रोज ही रात को उसने घूमते देखे थे और धीरे-धीरे उनका मतलब भी समझ गई थी।

उसने एक निगाह अपने पति पर डाली जो सो रहा था, बच्चे को चिपटाए।

युवती ने मुँह खोल दिया।

घूमने वाले ने देखा और—

दूसरी शाम वे लोग गांव की ओर जा रहे थे। शरीर में बल था। युवक प्रसन्न था। बच्चा भगता। कमर पर एक चावलों की पोटरी थी। बच्चे के पास एक छोटा सा कंदील था। वह किलक रहा था।

केवल युवती चुप थी। थकी सी, निढाल सी।

अंधेरी सड़क पर वे चल रहे थे। दूर एक बत्ती जल रही थी। अंधेरे में अकेली। राह दिखाती हुई। राहगीरों के लिए।

बालक का कंदील रोशन था।

युवक ने कहा, "कल रात भगवान ने सुन ली जो तुम्हें रुपये पड़े मिल गए। नहीं तो कलकत्ते में तो मर जाते हम लोग। जान पड़ता है किसी शराबी की जेब से निकल पड़े होंगे।"

युवती चुप रही।

युवक कहता गया, "पर भगवान सुनता सब की है। तभी तो हम पर कल कृपा की। अब गांव चलकर कभी कलकत्ते का नाम

भी न लेंगे।"

युवती चुप।

"थक गई हो?" युवक ने प्रेम से पूछा।

"नहीं तो।"

"अब घर पहुंचते ही हैं।"

"हां।"

वे चलते रहे। कंदील का दीपक जलकर उन्हें राह दिखाता रहा।

न जाने युवती क्या सोच रही थी? उस दिन बड़ी दिवाली थी।

तारतम्य

चारों ओर गेंदा फूल रहा था—पीला-पीला सोने जैसा। डालियां बोझ से झुकी जाती थीं। वह अकेला पेड़ था। उसमें छोटा-सा अधखिला फूल था गुलाब का, मानों सोने की लम्बी-सी लड़ी में लाल पिरोया हो।

ननुआ ने ललचाई आंखों से देखा। धीरे से तोड़ने को हाथ बढ़ाया।

"न बेटा," माली ने कहा, "फूल तोड़ते नहीं हैं। उसकी सोभा पेड़ पर ही होती है।"

ननुआ का छोटा-सा हाथ रुक गया; लेकिन ललचाई आंखें फूल पर गड़ी रहीं। उसका जी चाहता था तोड़कर जेब में रख ले। सूंघे, प्यार करे, खेले। पर बप्पा ने मना कर दिया था—"फूल की सोभा तो......।"

ननुआ माली का लड़का था। पांच साल की उम्र, मैले कपड़े, मटमैला रंग। वह रोज़ ही गुलाब के फूल को चुपचाप, एकटक, हंसती आंखों से बड़ा होते देखता था। उसका दोनों वक्त का काम ही यह रह गया था।

मानो फूल उसका छोटा भाई ही हो, इतना प्रेम था उसे उससे। पर उसने कभी तोड़ने को हाथ नहीं बढ़ाया। बप्पा ने

कहा जो था।

और ननुआ उस सुन्दर-से फूल की शोभा कैसे बिगाड़ सकता था ? न, कभी नहीं।

* * *

एक दिन सुबह ननुआ खुशी-खुशी अपना फूल देखने आया।

ओस की बूंदें, गुलाबी, बड़ा-सा—

पर वह एकाएक ठिठककर खड़ा रह गया। बार-बार देखा; पर फूल वहां न था। गेंदे के पौधे थे, फूल भी थे; गुलाब का पौधा भी था, पर उसमें ननुआ का फूल न था।

ननुआ के चोट-सी लगी। वह फफक-फफककर रोने लगा। हाय! उसका सुन्दर-सा फूल न जाने कौन ले गया ?

अब ?

ननुआ चुपचाप रोता रहा। दिन भर ननुआ ने न खाना खाया, न मां से लड़ा ही। चुपचाप अपनी गुदड़ी में पड़ा रहा। मां-बाप पूछकर हार गये; ननुआ ने कुछ नहीं बतलाया।

"सर में दर्द ? पेट में ? ताप ?," मां ने प्यार से पूछा।

ननुआ ने जोर से सर हिला दिया—नहीं।

मां को फिक्र पड़ी। नून-राई किया। उतारा-चढ़ाया; पर ननुआ के असर न हुआ। वह चुपचाप-सा रहने लगा। अब भी वह रोज जाता और पौधे को देखकर रो लेता था—हाय! उसका फूल!

* * *

सहसा एक दिन ननुआ ने देखा, एक बड़ी-सी कली ठीक उसी जगह चटख रही है।

दौड़कर वह पास जा पहुंचा। सच तो, उसका ही फूल है—बिलकुल वही! फिर आया है अपने ननुआ के पास। ननुआ खुशी से पागल हो उठा। फूल को चूमा, शिकायत भी की, गाया भी।

अब वह रोज़ देखता, फूल बड़ा हो रहा है। और अब वह हंसता, लड़ता-झगड़ता...मां-बाप की चिन्ता दूर हुई। मां ने महावीर स्वामी का परसाद चढ़ाया। फूल अब खूब बड़ा होगया था। ननुआ ने सोचा, अब अगर फिर कहीं चला गया तो? डर से वह कांप उठा। फिर हिम्मत करके उसने फूल को तोड़ ही लिया। हाथ में कांटा भी चुभ गया; लेकिन उसे खुशी थी कि अब उसका फूल कहीं नहीं जा सकेगा।

फूल को गोद में लाकर ननुआ ने जल्दी से अपनी गुदड़ी में छिपा दिया कि कहीं बप्पा देख न लें। रात-भर वह बड़े आराम से फूल के साथ सोया। गहरी नींद। सुन्दर-सुन्दर सपने।

सबेरे चुपके से उसने फूल को देखा—अरे! कुम्हलाया-सा, कुचला-सा! ननुआ का मुंह उतर गया।

ओह! ठीक तो है, रात-भर तो फूल ओस में रहता था न! उसे पानी में रहना चाहिए। और बप्पा भी तो रोज फूलों को पानी देते हैं।

ननुआ ने एक मटके में पानी भरकर उसमें फूल डाल दिया।

* * *

तीसरी सुबह—

ननुआ ने देखा, फूल सड़ चला है। एक तीखी गन्ध-सी उसमें से उठ रही है। ननुआ की आंखों में आंसू भर आये।

क्या फूल तोड़ लेने से ही मर रहा है? यह शंका होते ही ननुआ फूल को मुट्ठी में दबाकर बगीचे की ओर भागा। दोनों गालों पर आंसू, पैर में ठोकरों की चोट, हांफता हुआ वह वहां पहुँचा।

उसने मुट्ठी खोली; लेकिन फूल की तो कीच-सी बन गई थी!

ननुआ जोर-जोर से रो उठा।

फिर एकाएक उसने देखा, पौधे पर एक और कली चटख रही है।

मुट्ठी खुली ही रह गई। सड़ा फूल ज़मीन पर गिर गया। आंसू बन्द हो गये। आंखें खुशी से चमकने लगीं।

*   *   *

ननुआ ने बढ़कर देखा।

हाँ, वैसा ही तो यह भी था, बिलकुल वैसा ही।

गो-धूलि की वेला में

डूबता सूर्य सोने की वर्षा कर रहा था। उस वर्षा में इठलाते हुए खेतों के एक कोने में—साया सा—वह गांव।

एक दो घरों से धुंए की पतली सी रेखा उठ रही थी।

गांव में किसी भाग्यशाली के ही घर दो वक्त चूल्हा चढ़ता है।

गांव से बाहर, कुए की मेंड़ पर बैठकर चित्रकार ने यह सब देखा।

कैसा सुन्दर चित्र बन सकता यह, यदि.....यदि उसमें जान पड़ सकती।

चित्रकार? दुबला, पतला-सा नवयुवक। आधे बाल सफेद, बड़ी-बड़ी भावपूर्ण आँखें।

उन आँखों में कल्पना—गम्भीर......जाग्रत।

चित्रकार चौंक उठा।

गांव की पतली गली से निकलकर वह आ रही थी।

वह!

तेरह, चौदह वर्ष की। खंजन से नेत्र...दुबली-सी, गेहुँआ रंग।

वे आंखें, चित्रकार के नेत्रों से टकराकर झुक गईं।

सुनहली धूप में...वह अनुपम सौन्दर्य बिखरा पड़ रहा था।

चित्र में जान पड़ गई।

पर चित्रकार चित्र खींचना भूलकर एक मन से...उन फड़कते से ओठों को...उस दीप-शिखा-सदृश रूप को.. उन आंखों को... देख रहा था।

यदि वह उस मुस्कान को बना सकता! यदि वह उन ओठों को........

एक बार पूरी पलक उठाकर उसने चित्रकार को देखा, कमल की पंखड़ियां धीरे से खिल गईं—फिर.....

चित्र बना।

खूब बना। संसार में वाह-वाह हुई। चित्र और चित्रकार लोकप्रिय होगये।

* * *

थोड़े दिन बाद।

वही बालिका फिर कुए तक आई। तब भी तो गो-धूलि की बेला थी।

पर, तब सुनसान न था। थे बाजे और गाती हुई स्त्रियां।

उसके मुख पर मुस्कान थी कि नहीं, कौन जाने। घूंघट को भेदकर देख ही कौन सकता है?

हां, उसका ब्याह होगया था।

तभी तो साथ में—आगे-आगे—था दुलहा।

तीस, पैंतीस साल का अधेड़ पुरुष। बड़ी-बड़ी मूछें...लम्बा, तगड़ा।

अभिमान, आत्मविश्वास की मूर्ति—पुरुष।

गांव के देवता की पूजा हुई और वह जन-समूह लौट गया।

फिर शान्ति......

वही डूबता सूर्य, सोना बरसाता हुआ।

* * *

कई वर्ष बाद—

चित्रकार ने सोचा चलकर देखना तो चाहिए उसे, एक बार फिर।

न जाने कितनी बड़ी होगी वह ? वैसी सुन्दर तो न होगी... शायद हो भी...कौन जाने ?

पर जिसके कारण इतनी ख्याति मिली थी उसे देखना अवश्य चाहिये।

उसने देखा—

वही सन्ध्या—सुनहली, वही सोता-सा गांव, वही......

कुए की मेड़ पर बैठी थी वह !

वह !

हां, चित्रकार अकचकाकर रह गया। यही थी वह सौन्दर्य की मूर्ति ! वह मूर्तिमान चित्र !

ओह ! फटे कपड़े, मैले-से; हाथ लकड़ी से सूखे, पतले।

"कौन ? तुम !" उसने अकचकाकर कहा।

उसने, हां, उसने मुख उठाया और...वे ही खंजन से नेत्र, आंसू से भरे, उस तक पहुंचे और लड़खड़ाकर गिर गये।

"क्या हुआ ?" चित्रकार ने फिर पूछा।

और तब धीरे-धीरे, मानो अयाचित सान्त्वना पाकर वह बांध टूट गया।

बात वही थी, सदा की पुरानी।

नारीत्व और पुरुषत्व का संघर्ष।

बालिका का ब्याह हुआ था पुरुष के साथ। पतिदेव थे, अपार पुरुषत्व के अवतार।

मूर्ख मनुष्य ने सोचा—नारी केवल रमणी है—केवल पुरुष को ही चाहती है। हर समय, हर दम।

बालिका अबला थी सही, पर उसे यह सहन न हो सका।

एक दिन उसके दुखित, जर्जरित हृदय ने विद्रोह कर दिया।

वह घर से निकल पड़ी।

निकल कर गई भी कहीं नहीं। अकेली ही मां, बाप के यहां आई थी।

सोचा था......

पर, घर से अकेला भाग आना! ओह पुरुषत्व का अपमान।

बालिका ने देखा उसे बाप के घर में, माँ की गोद में, संसार में, ठिकाना नहीं।

तब, लाचार कुए पर आ बैठी थी।

जाय कहाँ?

चित्रकार ने सुना, समझा।

"सुनो," उसने कहा।

बालिका ने सुना।

समझी।

कुछ सोचकर...सोचा जो हो, कहीं तो जाना ही पड़ेगा। जैसे यहां, वैसे वहां।

और तब दोनों गांव से चल पड़े।

सामने लाल सूर्य डूब रहा था।

लाल रक्तमय।

चित्रकार का मुंह उज्ज्वल था, आंखें चमकदार।

बालिका का मुख और भी पीला था, उसकी आंखें कोनों से झांककर अपने साथी को देख रही थीं।

वह जल्दी-जल्दी चल रही थी।

पीछे गांव में एक वृद्ध, उस लाल गो-धूलि में दोनों को देख कर अपने टूटे दांत निकालकर हंस रहा था।

कटी कलाइयां

रमेश ने उस भारी भरकम मकान को देखा। गांव से बाहर मट्टी और पत्थरों के ढेर में वह मकान ऐसा लग रहा था मानो अस्थि-पंजरों के बीच में गली लाश पड़ी हो।

चारों ओर सन्नाटा था। न जाने कितनी दिल्लियों का वैभव मृत होकर उस मीलों फैले बीहड़पन में खोया पड़ा था। एक दिन आज की दिल्ली भी ठीक इसी प्रकार मृत हो जाएगी। चाँदनी-चौक और कनाट-सर्कस अतीत में घुल-मिलकर जंगल बन जायेंगे।

रमेश युवक था। पुरातत्व का विश्लेषक। 'पठानों का समय' विषय पर उसे निबन्ध लिखना था और उसी के लिए वह इस उजड़े गांव में आकर पड़ा था। पर, उन दस-बीस कच्चे झोंपड़ों में कई दिन रहने की समस्या टेढ़ी थी। इस कारण गांव के चौकीदार को लेकर वह अपने निजी नौकर के साथ उस खण्डहर तक आया था। दस-पांच दिन उसके दो-एक कमरों में कट सकते थे।

बूढ़े चौकीदार ने बड़े अनमने भाव से उसे खण्डहर दिखाया। न जाने क्यों वह यह नहीं चाहता था कि रमेश वहां ठहरे, पर उसकी पतलून और हैट ने बूढ़े को चुप-सा कर रखा था।

रमेश ने सोचा, शायद चौकीदार को उस पर सन्देह था। अनजाने लोगों पर सीधे-सादे गांव वालों का विश्वास न करना

ठीक भी जान पड़ा।

पर उसे तो रहना ही था।

बाहर के दो कमरे ठीक थे। रमेश ने वहीं डेरा लगाने की ठानी। अपने नौकर ननुआ से कमरे साफ़ करने को कहा और स्वयं भीतर की ओर बढ़ा। हवेली पठान-कालीन जान पड़ती थी और वह लगे हाथों उसे देख डालना चाहता था।

'साहब!'

रमेश रुक गया। मुड़कर देखा तो बूढ़े चौकीदार की मिच-मिची आंखें उस पर जमी थीं। उनमें कैसा एक भय, चेतावनी उमड़े पड़ रहे थे।

'क्या बात है चौकीदार?' उसने पूछा।

ननुआ भी कमरा साफ़ करना छोड़कर चुप खड़ा हो गया था। चौकीदार के उस एक शब्द के सम्बोधन ने जैसे सब को एक बार ही भयभीत कर दिया हो।

चौकीदार आगे कुछ कहने से हिचक रहा था। एक-दो बार उसका मुख खुलकर फिर बन्द हो गया।

'क्या कहना है?' उस असाधारण चुप्पी को भेदकर रमेश ने फिर पूछा।

'साहब, अन्दर न जाइएगा।'

'क्यों?'

चौकीदार फिर हिचकिचाया। बात कहते उसे कुछ अटकाव हो रहा था। पर तो भी उसकी बात में इतनी तीव्र प्रार्थना भरी थी कि रमेश हँस न सका।

'हवेली के बारे में,' चौकीदार ने धीरे से कहा, 'न जाने क्या

क्या मशहूर है···फिर बेकार अन्दर कूड़े-करकट और अँधेरे में जाने से लाभ ही क्या है ?'

रमेश हँस पड़ा। कालिज की सारी पढ़ाई, बीसवीं सदी का सारा बुद्धिवाद उस हंसी में केन्द्रित था।

'मेरी फिक्र न करो,' कहकर वह अन्दर चल दिया।

अन्दर सचमुच ही अंधेरा था। कुछ गन्दा सा, सोया सा अंधेरा। रमेश को लगा मानो सैकड़ों वर्षों से सोया वह अन्धकार उसके आने से क्षुब्ध हो रहा है।

उसने इधर-उधर देखा, दीवारें सुन्दर थीं। उनकी सजावट पर काफ़ी कारीगरी खर्च की गई थी। जान पड़ता था कि किसी बड़े नवाब की हवेली होगी।

कई लम्बे कमरे और दालान पार करके वह रनवास में पहुंचा। यहां अंधेरा और भी जमकर बैठा था। धूल, कंकड़, पत्थर जहां तहां पड़े थे। रमेश को सचमुच ही लगा जैसे आगे जाना ठीक न होगा। पर अपनी कमज़ोरी को वह स्वयं ही मानने को तैयार न था। वह आगे बढ़ा। तभी एकबारगी उसके सर पर से होकर कुछ उड़ गया।

वह ठक से रुक गया। पर, दूसरे ही क्षण वह मुस्कराया। चमगादड़ से भी क्या डर ?

अन्त में वह अन्दर के एक कमरे में पहुँचकर रुक गया।

कमरे में बाहर का धुंधला प्रकाश आ रहा था, जंगलों से जड़े एक रोशनदान में होकर।

कमरे में कुछ न था। केवल सामने दीवार के बीचोबीच एक बड़ी कील गड़ी थी।

रमेश का दिल धड़कने लगा। सर झनझनाने लगा। उसे लगा मानो वह कमरा चारों ओर से उसे ठेल रहा था—बाहिर की ओर। वह लौटा। तेज़ी से, एक दो जगह ठोकर खाता हुआ।

पर, बाहिर आते न आते उसकी दशा ठीक हो गई। मन ने कहा देर तक बन्द हवा में रहने का यह फल होना ही था। सड़ी हवा में अधिक देर रहने से शायद वह बेहोश हो जाता।

बाहर कमरे में आकर उसने अघाकर सांस ली। फिर देखा तो ननुआ और चौकीदार धीरे धीरे कुछ बात कर रहे हैं। उसे देखकर वे चौंक पड़े।

बूढ़ा चौकीदार शायद ननुआ को भूत की कहानी सुना रहा था।

'कमरा साफ़ हो गया?' रमेश ने ज़ोर से पूछा।

'जी अभी करता हूं।'

वह तेज़ी से सफाई करने लगा। चौकीदार को खड़ा देखकर रमेश को झुँझलाहट हुई। बेवकूफ़ ने बेकार ननुआ को डरा दिया। यदि कहीं वह अधिक डर गया हो और भाग ही जाए तो—

'बस अब तुम जाओ, देर हो रही है,' उसने चौकीदार से कहा।

चौकीदार चलने लगा। फिर थोड़ा रुककर बोला, 'साहब, रात में भीतर न जाइयेगा, रोशनी रखिएगा और...और अगर ज़रूरत पड़े तो मुझे फौरन बुला लीजिएगा।

इतना कहते न कहते वह चल पड़ा।

रमेश सन्ध्या के धुंधलेपन में उसे जाता देखता रहा। उसके ओझल हो जाने पर उसे लगा मानों सब कुछ एकबारगी सूना

होगया था, मानो सभ्यता और समाज उससे दूर कहीं अन्तर्धान हो गये थे।

आह! वह मुड़कर कमरे में चला। देखा ननुआ कमरा साफ करके चुप खड़ा था।

'क्या है रे?'

उसने धीरे से कहा, 'साहब, चौकीदार कहता था...।'

बिगड़कर रमेश बोला, 'डरता है। तू खाक राजपूत है। डरता है तो जा भाग।'

ननुआ तनकर खड़ा होगया। फिर वैसे ही तना हुआ दूसरे कमरे में चला गया।

'चाय बना तो।'

'जी,' दूसरे कमरे से उत्तर मिला।

और रमेश किताब खोलकर पढ़ने लगा।

रात बढ़ने लगी।

रमेश ने चाय पी। फिर खाना खाया और फिर ननुआ को सोने को कह, आप डटकर पढ़ने बैठ गया।

पढ़ते-पढ़ते न जाने कितनी देर हो गई। सहसा ही वह चौंक पड़ा। ध्यान से सुनने लगा। सचमुच ही सिसकियों की आवाज़ आ रही थी। मानों कोई नारी कराह कर, पीड़ा से थककर, सिसक कर रो रही हो। न जाने कैसे हवा में भरी वे सिसकियां थीं कि रमेश को लगा मानो सारे कमरे में उनके साथ कम्पन हो रहा है।

होगा कुछ, सोचकर उसने किताब पर आंखें जमाईं। पर, जमें तब तो। वे हृदय-विदारक सिसकियां तो मानो उस किताब से टकराकर उसके मुख को सिहराती हुईं कानों में जा रही थीं।

रमेश एक मन सुनने लगा। सिसकियों की वेदना बढ़ गई थी। मानो सिसकने वाला दर्द से बेहाल हो रहा हो। मानो कह रहा है, कोई है जो मुझे बचाए, बचाए...

रमेश चौंक पड़ा। सिसकियां मकान के अन्दर से ही तो आरही थीं। एक क्षण बाद उसे यह निश्चय होगया कि अवश्य ही सिसकने वाली घर के भीतर ही है।

यह समझते ही उसने मन को कुछ ढाढ़स दिया। जान पड़ता है किसी ने विशेष कारणवश ही उस खण्डहर को ऐसी भयानक प्रसिद्धि दी थी। कौन जाने यह बदमाशों के किसी गिरोह का अड्डा ही हो जिनकी यातना से पीड़ित वह नारी रो रही हो।

धीरे से लकड़ी लेकर रमेश उठा और भीतर की ओर चला। उठते-उठते उसने प्रतीत किया कि रोना तीव्र होगया है। सिसकियां मानो उसे बुला रही हैं—तुम आओ, अरे, तुम आओ!

कोई उसे बरबस भीतर खींच रहा था।

वह चल दिया। दबे पांव।

पर वह अन्धेरा बड़ा भयानक था। और—हां गीला सा। रमेश को साफ लगा मानो वह उससे चिपटा जा रहा है। उसे पकड़ कर रोक रहा है। अपनी काली काली अनगिनत भुजाओं से उसे रोकने में तत्पर है।

पर, सिसकियां उसके रोम रोम में भर रही थीं, उसे खींच रही थीं।

वह आगे बढ़ रहा था, बड़ी मेहनत करके। अंधेरे को ठेलने के प्रयास से ही वह पसीने पसीने हो गया था, लेकिन वह उस

दुखी नारी तक पहुंचेगा ! जाएगा !

रमेश बड़े हॉल के दरवाज़े पर जा पहुँचा। उसके अन्दर से ही वे सिसकियां आ रही थीं, अचानक, उसे बुलाती हुईं।

अंधेरा यहां जमकर बैठ रहा था। रमेश को लगा मानो पल पल पार करनी पड़ रही हो; पर, उसे भीतर जाना था। अब तक वह यह भी भूल चुका था कि वह क्यों आया था ? केवल यही याद था कि जैसे भी हो उस कमरे में उस नारी के पास उसे जाना है।

वह अन्दर घुस गया।

एकबारगी, उसके पसीने से भीगे बदन को जैसे किसी ने बांध लिया और घसीटकर सामने दीवार की ओर से ले जाने लगा। वह बन्धन उसे शिथिल किये दे रहा था, शरीर का सत खींचे ले जा रहा था।

रमेश ने सामने देखा उस बड़ी कील को। फिर देखा, उस पर टुकी तड़पती दो कलाइयाँ मात्र। छोटी सी, पतली सी, छाया सी, वह उन्हें छूने बढ़ा, छुड़ाएगा। उस सिसकने वाली की सहायता करेगा।

सहसा एक चीख के साथ कमरे में रोशनी हो गई। रमेश का सारा सम्मोहन टूट गया। चकराकर वह गिर पड़ा।

* * * *

जब उसे होश आया तो देखा ननुआ और चौकीदार उसकी सेवा में लगे हैं। वह अब भी भारी कमज़ोरी महसूस कर रहा था, जैसे महीनों का बीमार हो।

'क्या हुआ था, ननुआ ?' उसने धीरे से पूछा।

ननुआ चौकीदार की ओर देखकर चुप रह गया।

बूढ़े ने खखारकर गला साफ़ किया और रमेश की ओर मुड़कर बोला, 'साहब, ननुआ ने आपको बचा लिया। जो वह वख़्त पर न पहुँचता तो खैर न थी।'

'क्या हुआ था?'

'साहब,' चौकीदार ने कहना आरम्भ किया, 'मैंने आपको पहिले ही चेताया था, पर एक तो जवानी, फिर अंग्रेजी तालीम, आपने मेरी बात उड़ा दी। तो फिर मैंने ननुआ को सब कुछ बताकर समझा दिया था।'

'क्या?'

'यही कि रात में आपको अकेला अन्दर न जाने दें।'

'क्यों?' फिर कुछ याद आने से चौंककर रमेश ने कहा, 'और वह सिसकने वाली औरत क्या हुई?'

चौकीदार ने माथे पर हाथ मारकर कहा, 'वही तो सारा किस्सा है साहब। सैकड़ों बरस हुए तब यह महल किसी नवाब साहब का था। बड़े मनचले रहे होंगे वह। पर उनकी याद इस में कोई न रही।'

'क्यों?' रमेश ने उत्सुकता से पूछा, 'ज़रा खोलकर बात कहो।'

'वही तो कहता हूँ, साहब। तो नवाब साहब के दर्जनों बेगम, लौण्डियाँ थीं। फिर भी उनका मन न भरता था। सो बुढ़ापे में उन्होंने एक और ब्याह किया। नई बेगम की नई उमर थी, उसके बूढ़े मियाँ नहीं भाए। सो, बेचारी ने न जाने कितने बरस तो तड़प-तड़प कर काटे। न जाने कितने जवानों को देखकर मन की उमंगों को दबाया। पर एक दिन वह एक नौजवान को देखकर सब कुछ भूल गई। फिर एक बार गिरीं सो गिरीं। न जाने कितनों

को उन्होंने अपनाया और छोड़ा। शायद बूढ़े से बदला लेने की उनकी यही तरकीब थी।'

'लेकिन एक दिन बात पकड़ी गई। जवान तो बचकर भाग निकला, लेकिन बूढ़े नवाब ने बेचारी बेगम की कलाइयां अन्दर वाली बड़ी कील से दीवार में ठुकवा दीं। वहीं वह तड़प-तड़प कर भूखी प्यासी मर गई।'

'ओफ़!' रमेश के मुंह से निकला। वह दहला देने वाला दंड।

चौकीदार कहता रहा, 'तब से, साहब, जो भी जवान इस खण्डहर में ठहरता है, आफ़त में आजाता है। बेगम की रूह उसे खींच बुलाती है और वह या तो उस कील से चिपककर जान दे देता है या पागल हो जाता है।'

चौकीदार चुप हो गया।

रमेश भी चुपचाप सोचने लगा। युग-युग से पीड़ित उस नारी की सिसकियां उसके कानों में घुसकर हृदय को मथने लगीं।

कटहरा

मैंने सब ही कुछ देखा है। बेड़ियां झनझनाते कैदियों को मैंने अपने पास हंसते देखा है......रोते भी......चुपचाप भी।

यही तो मेरी दिन-चर्या है।

मैं कचहरी का कटहरा जो हूँ।

बहुत दिनों से इसी भांति, एक मन से मुझे सब कुछ देखना-सुनना पड़ता है।

न्यायाधीश का भारी-भरकम मुख, उनकी गवेषणापूर्ण विचार-धारा—मानो किसी बेजान मसले पर बहस कर रहे हों—काले-काले चोगे पहने, बाल की खाल निकालने वाले वकील, कमरे में उपस्थित जन-समुदाय, एक ओर रौब से खड़ा चपरासी, पुलिस, दारोगा...... और उन सब में, मुझ में खड़ा वह मानव, जिसके लिये सब सरंजाम किया गया है।

कभी-कभी—शुरू में तो अक्सर ही—विश्वास ही नहीं होता था कि इस नोंक-झोंक और झकझक में किसी मानव का जीवन भी एक भीषण रूप से सम्बन्धित है।

सब कुछ तो खेल-सा जान पड़ता था।

तब, पहले धक्का-सा खाकर, और अब तो आदत-सी होने के कारण, यह समझ लेना पड़ा है कि यह सब मज़ाक न होकर एक

भीषण सत्य है ।

मानो किसी दुःखान्त नाटक के अन्त में सहसा आपको ज्ञात हो कि नायक की वास्तव में मृत्यु हो गई है । ठीक ऐसा ही मुझे भी लगा था । अब भी पूर्णतया आदत नहीं पड़ी है ।

मुझे तो आश्चर्य-सा होता है । मैं तो फिर भी बेजान, लकड़ी का सूखा ढांचा मात्र हूँ । पर, वे हाड़-मांस के बने, भावना और कल्पना वाले मनुष्य, न जाने कैसे, ऐसे हृदयहीन हो जाते हैं ?

मैंने रोती, जर्जरित बालिका के दुखी पिता से पेशकार को अपना हक़ और चपरासी को अपना इनाम मांगते देखा है ।

और भी देखा है वकीलों को, मुंशियों को, अहलकारों, को— सबको ही इन निरीह, दुर्बल, फटे कपड़े वालों से रुपया लेते ।

सुबह से ही कचहरी में आना-जाना प्रारम्भ हो जाता है । मैं भी उठकर चुपचाप सब देखने लग जाता हूँ ।

पहले, सबसे पहले, पर भंगियों के बाद में, आते हैं मुहर्रिर लोग । बाज के समान, मैंने इन्हें मनुष्यों पर झपटते देखा है ।

फिर तो तांता-सा लग जाता है ।

कभी-कभी किसी बेचारे के विरुद्ध पुलिसवाले या वकील चुपचाप कोई कानफूसी करते हैं ।

वे समझते हैं कि कोई सुन ही न रहा होगा ।

पर, मैं, मैं तो अपने तेज कानों से सब ही सुन लेता हूँ ।

और दूसरे के कष्ट पर व्यापार करने वाले सभ्य मानव की दयनीय दशा पर, सच मानिये, मैं कांप उठता हूँ ।

मैंने ऐसे-ऐसे लोमहर्षक काण्ड सुने और देखे हैं कि...बस ।

पिता को पुत्र के विरुद्ध, मां को बेटे का शत्रु और भाई को बहिन

से लड़ते, पति-पत्नी की पशुता......सब ही मैंने देखा है, सुना है।

रात-दिन ही तो सुनता हूँ।

यही तो है मनुष्य की सभ्यता।

उस दिन की बात तो अब तक याद है। वह बेचारी फूल-सी सुकुमार लड़की घर से भागने के अपराध में पकड़ी गई थी।

उसकी आंखों के नीचे स्याही थी, आंसू नहीं।

मुख पर मानो वेदना और नैराश्य......

उसने जज साहब को अपनी जीवन-कथा सुनायी थी। सुनकर मैं तो कांप गया था।

बालकपन में, जब कि वह अंधेरे में टटोलकर यौवन की ओर बढ़ रही थी, कि एक नर-पिशाचने......।

ओह! मैंने देखा, उस बड़े-बड़े दांतों वाले बूढ़े को!

फिर, मां-बाप ने मिल उसका ब्याह कर दिया, उसे बेच दिया—रुपये लेकर—एक दूसरे पशु के साथ।

उसके पति ने भी उससे कहा था, मारा-पीटा भी था कि वह—कमाये।

जीवन से दुखी वह घर छोड़कर निकल गई थी।

तब ही पतिदेव ने अपने स्वत्व का प्रयोग किया था, पुलिस के जरिये।

मैं सोचने लगा कि देखें अदालत क्या करती है?

अदालत करती भी क्या?

हिन्दू की शादी—न टूट सकने वाला फन्दा है।

कुछ भी न हुआ। वह रोती हुई चली गयी। पर, मैं तो समझ ही गया था कि वह बचेगी नहीं। अपने त्याग के लिए भगवान

तक पहुंचेगी।

कौन जाने, पहुँची या नहीं? रास्ते में नरक जो पड़ता है।

ऐसा ही तो मैं रोज ही देखता हूँ।

हां, एक बात और याद आ रही है, सो भी कह दूं।

अभी कल ही की तो बात है।

मैंने देखा, एक नवयुवक को हथकड़ियों में जकड़ा हुआ, दुबला रोगी-सा।

पुलिस के पहरे में।

न जाने क्या किया था।

सुना—उस पर आत्महत्या का अभियोग था।

आत्महत्या!

क्यों?

मैं तो हक्का-बक्का रह गया। इस नयी जवानी में! आत्महत्या! हाय जमाना!

फिर जो सुना तो......।

युवक ग्रेजुएट था। बी० ए० के बाद रोटी की तलाश की।

रोटी न मिली।

घर में बीवी थी। एक बच्चा भी।

फिर बीवी का भूख से उतरा मुख और बच्चे का बिल-बिलाना न सुना गया।

तंग आकर उसने......।

न्याय ने उसके काम को अनुचित ठहराकर उसे सजा दे दी।

मैं सोचने लगा, अदालत के एक कोने में खड़ी उस बालिका—उसकी पत्नी—और बच्चे का अब क्या होगा?

न्याय ने उनके लिये क्या किया ?
रात के सन्नाटे में बहुधा ही ऐसा सोचा करता हूं।
पर, मेरे सोचने से होता ही क्या है ?
न्याय रोज ही होता है। होना ही चाहिये।
पाप का फल मिलता ही है।
पर, किसको ?
मुझे नहीं मालूम।

सूत का धागा

बुढ़िया चमेली अपने छोटे-से आंगन में चर्खा कात रही थी।

कच्चा आंगन, ज़रा-सी नई-सी कोठरी और उस आंगन और कोठरी में रखी दो-चार टूटी-फूटी वस्तुएँ—यही चमेली का सब कुछ था।

उसी अंधेरी कोठरी में चमेली ने ४५ वर्ष काटे थे, उस कच्चे आंगन में सूत कातकर, कोने में आती-जाती धूप से समय का अन्दाज़ लगाकर जवानी को बुढ़ापे में असमय ही बदल दिया था।

पर आज उसे कुछ अजीब-सा लग रहा था। कुछ कमज़ोरी-सी। तो भी वह सूत काते जा रही थी। अपनी धुंधली आंखों से देखकर, अपने सूखे, झुर्रीदार हाथ से घुमाकर चर्खा चला रही थी।

इस पर तो अब उसकी रोटी थी।

मगर आज तार बार-बार टूट रहा था। हाथ में कुछ कंपकंपाहट सी थी जिससे तार टूट जाता था।

चमेली उसे जोड़कर फिर चर्खा चलाती जाती थी।

सूत कातकर पैसे मिलने पर ही तो पेट में कुछ पड़ सकेगा।

धीरे-धीरे चमेली का हाथ हलका पड़ने लगा, आंखों के आगे अंधेरा-सा आरहा था।

शाम होगयी थी शायद।

अभी उठकर दिया जलाएगी, पर उठने को मन नहीं कर रहा था। न जाने कैसी शिथिलता-सी लग रही थी।

वह दम लेने को पीछे दीवार से लगकर टिक गयी।

* * * *

चमेली को याद आया कि कैसे वह एक दिन छोटी-सी बच्ची थी। मां, बाप उसे कितना प्यार करते थे।

घर के पीछे खेत था, मैदान था। वहीं खेल-कूद में दिन बीतते थे।

और कभी-कभी रामायण का पाठ करने को जब उसे पिताजी कहते तो वह कितने भक्ति-भाव से ठाकुरजी की मूर्ति के आगे बैठ कर रामायण पढ़ा करती थी।

यों ही दिन बीता करते थे।

एक दिन चमेली का ब्याह हुआ था। माता-पिता बड़े मगन थे। चमेली का ब्याह बड़े भारी घर में हो रहा था, रानी बनेगी वह तो।

ससुर बड़े आदमी थे, पति अकेले लड़के थे और कालेज में पढ़ते थे।

चमेली लाल-लाल कपड़े पहिनकर, गठड़ी-सी बनी ससुराल आयी।

उन्हें देखा और—निहाल हो गयी। सच ही वह बड़े सुन्दर थे, भले थे। चमेली ने अपने को धन्य माना और उन पर मिट गयी, मर गयी।

फिर वे चले गये पढ़ने। चलते समय कहा था,—'चमेली, प्रिये, थोड़ दिन की बात है, फिर तो हमें कोई भी अलग न कर

सकेगा। हम दोनों एक हैं।'

चमेली उस घर में अकेली रह गयी। यानी नौकर-चाकर थे, ससुर थे, पर चमेली अकेली ही थी।

उसने कुछ दिन में ही देखा कि घर की एक कहारिन बड़ी बनी-ठनी रहती है। चौड़े पाड़ की साड़ी, मुंह में पान, आंख में सुरमा।

और वह चमेली से बातें भी कुछ बदतमीज़ी की-सी, कुछ बड़प्पन की-सी करती थी।

चमेली को बुरा लगता था। उसे आश्चर्य होता था कि वह कहारिन इतना साहस करती कैसे थी। शायद घर की पुरानी नौकरानी होने के कारण।

मगर जब-तब कहारिन का ऊपर के कमरे में ससुर के पास घंटों बैठे रहना उसे कुछ अजीब-सा लगता था।

धीरे-धीरे वह सब समझ गयी। अपने मन से सोचकर नहीं, अपनी दोनों आंखों से देखकर।

न जाने किस काम से वह एक दिन ऊपर गयी। ससुर के कमरे के किवाड़ अड़के थे। भीतर से किसी के हंसने की—उसी कहारिन की हंसी की आवाज़ आ रही थी। उसने न जाने कैसे कौतूहल में झांककर, चुपके–से देखा।

देखकर वह दंग रह गई। घृणा से उसका मन भर आया। देवता-स्वरूप ससुर का असली रूप देखकर वह थर्रा गयी।

बेचारी बालिका तो थी ही। उसने जो देखा उसे भयानक पाप समझा—यही उसकी शिक्षा-दीक्षा थी।

नीचे आकर वह चुपचाप बैठ गयी। धीरे-धीरे इस घोर पाप की बात सोचकर उसका सर्वाङ्ग जल उठा। उसे क्रोध आया ससुर

पर, कहारिन पर।

साथ-ही मन में उस पाप भरे घर पर घृणा हो आयी। पर, बोले किससे, कहे किससे। पतिदेव तो बाहर थे, दूर। अच्छा, यदि वह उन्हें चिट्ठी में यह सब लिख दे तो—पर, उसे लज्जा हुई, यह सब लिखने के विचार से। छिः वह कैसे लिख सकेगी?

सहसा ही वह चौंक पड़ी। सामने वही कहारिन खड़ी हंस रही थी, कुछ विद्रूप से, कुछ बड़प्पन से।

'बहू,' उसने कहा, 'हर वक्त बैठी न रहा करो। कुछ काम भी किया करो।'

चमेली के शरीर में मानों आग लग गयी।

'तू तो ऊपर से शायद काम करके ही आ रही है,' उसने बिगड़कर कहा, 'बेहया कहीं की। लाज तो नहीं आती। खबरदार जो मुझसे कभी बोली तो।'

कहारिन का मुंह क्षण भर को सफ़ेद पड़ गया। फिर सहसा उसकी आंखों में से न जाने कैसी आग निकलने लगी। चमेली कुछ सकपका-सी गयी उससे।

'तो यह बात है,' कहारिन ने कहा, 'किन्तु जल में रहकर मगर से बैर करना फ़ायदा नहीं करता।'

वह चली गयी।

चमेली कुछ डरी तो। नाहक़ ही उसने बेवकूफ़ी से यह झगड़ा खड़ा कर लिया। न बोलती तो अच्छा था। अब न जाने वह ससुर से क्या लगावेगी। इधर उसका जो कुछ ज़ोर था, पति ही तो थे। वह घर पर थे कहां?

दो-एक रोज़ चमेली सहमी-सी रही। पर, उसने देखा ससुर ने

कुछ भी तो, किसी बात पर भी कुछ नहीं कहा। और उस कहारिन ने तो बोलना ही छोड़ दिया था।

चमेली का मन हल्का हुआ। सोचा, वह बोलते भी कैसे। पाप में कहीं साहस होता है।

और दिन बीतते गये। चमेली अब उस घर में अकेली-सी थी। घर काटने दौड़ता था। ससुर और कहारिन तो उससे बोलने की कसम खा चुके थे।

कहां जेल में आ पड़ी, चमेली सोचती।

आखिर उसके पति के आने का दिन आ ही पहुँचा। चमेली ने अपना कमरा जगमग किया, अपना सिंगार किया और उनकी प्रतीक्षा में बैठ गयी।

तांगा आया, रुका, वह उतरे और पिताजी के पास पैर छूने गये। गये तो कोई एक घंटे बाद ही निकले।

चमेली ने धड़कते हृदय से सुनी उनके आते-पैरों की आहट, तेज़-तेज़!

वह धड़धड़ाते और—

चमेली पर मानो बिजली गिर पड़ी। एक सांस में वह न जाने क्या-क्या कह गये। चमेली ने यही सुना और समझा कि उन्होंने उसे कुल्टा कहा था। उसे घर से उसी दिन निकल जाने की आज्ञा दी थी।

पर चमेली किससे अपनी कहे, पैर पकड़कर रोके—वह चले गये। चमेली की सुने बिना।

* * * *

फिर न जाने वह दुःख भरा समय कब निबटा। चमेली को

मिली थी वह छोटी-सी कोठरी और पांच रुपये माहवार। उसी मोहल्ले में।

न जाने कैसे-कैसे पैंतालीस वर्ष उसी घर में उसके कट गये थे। सुनसान, वीरान वर्ष!

अब भी चमेली देखती कहारिन को पति के घर की छत पर—अब भी चौड़े पाड़ की साड़ी पहिने, पान खाये।

ससुर संसार के सामने मुंह उठाकर चलते थे।

पतिदेव ने कभी उसे देखा तक न......

उसके आंगन में अंधेरा छा रहा था।

चमेली का शरीर एक बार कांपा और पीढ़े से ढुलक पड़ा। पड़ा रह गया।

तकुए से टूटा सूत का धागा हल्की सी हवा में धीरे-धीरे हिल रहा था।

परदेसी

शाहज़ादी छज्जे पर भूलकर ही कभी आती थी। भूलकर तो नहीं, पर देखने वालों को ऐसा ही जान पड़ता था।

और उस हड़बड़ाई-सी, भूली-सी झलक के लिए शहर के आवारे और कालिज के विद्यार्थी चावड़ी की पटरी पर चक्कर लगाया करते थे।

उसकी संगी-साथिनें बन-ठनकर छज्जों पर बैठतीं, ज़बरदस्ती हंसतीं और माथे पर बल डालकर रह जातीं।

उनकी ओर देखने वाला कोई न था। अकेली शाहज़ादी बाज़ार की रौनक थी।

हंसमुख, लापरवाह, अल्हड़,—उसे अपने उस जीवन में कोई भी नई बात न मालूम पड़ती थी।

ग्राहकों से हंसना, बोलना, रूठना, रुपये ऐंठना—इन सबको वह कुछ बुरा न समझती थी।

यह तो पेशा था।

उसे न जीवन से घृणा थी, न पेशे का अपमान ही उसे छूता था।

वह तितली के समान सुन्दर, प्रसन्न और चंचल थी।

बिजली के उज्ज्वल प्रकाश में वेश्या के उस कोठे पर प्रेम

सस्ता बिकता है।

शाहज़ादी से भी हर कोई अपने प्रेम का बखान करता था। वह भी हंसकर, गम्भीर होकर, या माथे पर बल डालकर—जैसा मौक़ा हो—सुन लेती और बस कुछ नहीं!

बचपन से देखी समझी शाहज़ादी न जानती थी कि प्रेम किसे कहते हैं।

वेश्या जान भी तो नहीं सकती।

एक दिन—

शाहज़ादी ने झलमलाते कमरे में प्रवेश करके देखा, और अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को जमाकर ग़ौर से देखती ही रह गई।

सामने मसनद पर एक छरहरा नौजवान बैठा था। बिल्कुल सादा, सीधा। और फिर उसने शाहज़ादी की ओर देखा। ओह कितना सुन्दर!

शाहज़ादी एक मिनिट के लिए घबरा गई।

उड़ती निगाह सामने आईने पर डाली। देखा फ़िरोज़ी, ज़री की साड़ी खूब ही खिल रही थी। बाल, मुख, जम्पर, पैर तक सब ठीक था।

गाना शुरू हुआ।

पर—शाहज़ादी ने देखा, युवक के मुख पर न कोई भाव था, न वैसी सस्ती सी हंसी।

चुपचाप खामोश।

शाहज़ादी तन-मन से गाने लगी।

इस पत्थर की प्रतिमा को तो जगाना ही होगा।

मगर, बेकार।

सहसा शाहज़ादी ने गाना बन्द कर दिया ।

युवक ने चौंककर देखा और नोट आगे सरका दिये ।

और उठने लगा ।

शाहज़ादी ने अटकते हुए कहा, "बैठिये तो, कुछ देर !"

शाहज़ादी प्राणपण से पत्थर में जीवन का संचार करने लगी। देखा, काम कुछ बहुत मुश्किल न था । युवक बोलता तो था, पर कम, घबराया-सा ।

लेकिन शाहज़ादी दुनिया को भूलकर उसमें लीन थी।

उसने सब ही कुछ कहा, सब ही कुछ किया, पर युवक चला गया।

आधी रात ।

अनमनी शाहज़ादी पलंग पर करवटें बदल रही थी। इस मनुष्य को तो जीतना ही पड़ेगा। जरूर, जरूर ।

पर कैसे ?

कितना सुन्दर, कैसा चुप—शाहज़ादी ने मुस्कराकर सोचा—मानो मुंह में दही जमा हो।

शाहज़ादी तो सोच रही थी, पर यह नहीं सोचा कि, आज जीवन में पहली बार वह एक तमाशबीन से क्यों इतनी परेशान थी !

युवक, मदनलाल, वास्तव में रस कूंचे में एकदम अनजान थे।

रईस किन्तु सीधे, सुन्दर मगर भोले, कॉलेज के ग्रेजुएट मगर इश्क के स्कूल से नावाकिफ़ ।

जीवन में पहली बार वेश्या को देखने आए थे ।

क्यों ? सनक ही थी । फुटपाथ की एक झलक ।

दूसरे दिन—

मदनलाल ने रात भर के जागरण के बाद तय किया था कि आज न जायंगे।

पर शाम होने तक।

नहाकर कपड़े बदल चुके थे। कितनी सुन्दर थी वह! मानो गुलाब दूध में नहाकर आया हो।

इतनी सुन्दर और—वेश्या!

मदनलाल ने सोचा कि एक बार जाने में हर्ज ही क्या है। रोज़-रोज़ तो वह यहाँ होंगे भी नहीं।

और वह चल दिये।

आज शाहज़ादी स्वप्न के समान सुन्दर थी। घंटों की कोशिश ने आज......धड़कते हृदय से सोच रही थी कि शायद वह आयें। मदनलाल दर्वाजे में घुसे और ठिठककर रह गए।

शाहज़ादी आज जीती-जागती दिये की लौ के समान थी। स्वर्गलोक की अप्सरा या मूर्तिमान सुन्दरता।

मदनलाल को देखकर शाहज़ादी का मुख लाल हो आया।

धड़कते हृदय से उसने उनका स्वागत किया।

आज मदनलाल पर जादू चल गया।

खाना, पीना, हँसी, मज़ाक।

रात के ग्यारह बजे।

चटखती चाँदनी में—छत पर मदनलाल और अधलेटी-सी शाहज़ादी।

अपनी काली और बड़ी आंखों में हृदय का सारा प्रेम भरकर उसने कहा, "प्यारे!"

मदनलाल का हृदय हिल उठा।

वह आगे को झुक गये।

दोनों के धड़कते हृदय पास-पास हुए।

मदनलाल के होठों ने शाहज़ादी के रंगे गुलाबी होठों को छू दिया।

काँपते हाथों से मदनलाल ने रेडियो खोल दिया।

और गाने की मधुर तान हवा में गूंज उठी।

रेड़ियो गा रहा था—

'प्रेम नगर में बनाऊंगी घर मैं—'

शाहज़ादी पागल हो रही थी।

गाना मानो उसके हृदय को मथे डालता था।

वह भूल गई कि वह वेश्या है, कि उसका धर्म चांदी के कुछ टुकड़ों पर अपने को वेचना था।

केवल वह नारी थी।

अपने पुरुष के सम्मुख।

प्रियतम के समीप।

एक हल्की सांस के साथ उसने सहसा मदनलाल के हृदय में सिर छिपा लिया।

आकाश में चन्द्रमा हंसने लगा।

रेडियो से कर्र कर्र की आवाज़ आने लगी।

शाहज़ादी, तुम भूलीं। वेश्या को प्रेम का अधिकार नहीं।

मदनलाल चले गए थे।

कई दिन बाद रात को—

शाहज़ादी खिड़की में सिर रखे आसमान को देख रही थी।

आंखों में वेदना, हृदय में निराशा। वेश्या का प्रेम कौन स्वीकार करता है! इस जीवन से क्या अर्थ?

रेडियो गा रहा था।

शाहज़ादी क्या करे? आत्मघात— !

सहसा रेडियो में उसने सुना—

उस शाम की पहली शेर उसने सुनी—

'फ़क़त इस आसरे पर रात काटी शमा ने रो रोकर।
कि शायद सुबह तक ज़िन्दा मेरा परवाना हो जाये।'

शाहज़ादी की आंखों से गर्म-गर्म आंसू बहने लगे। तमाम रात गलना पड़ेगा इन्तज़ार में!

फिर सुबह, इस काली रात की समाप्ति पर, दूसरी दुनिया में मिलन!

शमा के बुझने पर।

जलना...

दूसरे दिन शाहज़ादी ने वह घर छोड़ दिया। कहां गई सो नहीं मालूम।

सात आँगनों का महल

राजस्थान का एक कोना। विन्ध्याचल का एक छोटा सा टुकड़ा। उसके पीछे डूबता सूर्य।

एक विशाल खंडहर। काले पत्थर का बीहड़, घास और कांटेदार झाड़ियों से भरा।

पास ही गांव, छोटा-सा, सोया हुआ-सा।

राजस्थान के ही समान खोया-सा, गरीब, निरीह·····यह उसका एक कोना।

किन्तु आज से कई सौ वर्ष पहले।

तब भी एक दिन।

महल गर्व से मुख ऊंचा किये खड़ा था। भारी-भरकम, देव-सा भयावना!

गांव भी बड़ा, चहल-पहल-सा, जीवनयुक्त-सा। गलियों में चमकदार कपड़ों से ढकी, सर पर गगरी लिए, छम-छम करती हुईं नवयुवतियां।

घरों से निकलता हुआ धुआं। खेतों से लौटते हुए, हँसमुख किसान।

आज के खँडहर में सात आँगन थे। बड़े-बड़े, झाड़ियों से भरे।

तब—आँगनों में सफाई। धीरे-धीरे इधर-उधर चलती हुई दासियां।

महल की उत्तरी दीवार में एक खिड़की जाली से ढकी हुई।

जाली के पीछे अधछिपी-सी एक नवयुवती, पत्तों के पीछे छिपे फूल-सी सुन्दर। जाली में से झांकती हुई खञ्जन-सी आंखें—सुदूर झड़बेरी के जङ्गल को देखती-सी।

अनमनी—उदास

* * * *

सहसा अंगूरी ने—हाँ, यही उस राजस्थानी फूल का नाम था—गौर से देखा।

जङ्गल से पगडण्डी पर होता हुआ एक पथिक निकल रहा था।

हाँ, अंगूरी ने देखा। नवयुवक, सुन्दर......धूल से भरा हुआ और हथियारों से लैस।

न जाने कौन था? कहां से आ रहा था? कहां जाने वाला था?

ऊँह!

पथिक धीरे-धीरे चलता हुआ गाँव में ओझल होगया। अंगूरी फिर अकेली रह गई।

दूसरे दिन शाम को—

अंगूरी ने फिर उसी बटोही को देखा, चुपचाप खोया-सा, एकटक पहाड़ी की ओर ताकते हुए।

न जाने क्या सोचकर, शरारत से या नियति के सङ्केत से अंगूरी ने अपने सुन्दर पँचगुट्टों में से एक उसके पास फेंका।

युवक ने मुड़कर देखा—

झिलमिलाती हुई अंगूरी को। और...!

उसने झुककर पत्थर के उस टुकड़े को उठा लिया और—हां! ओठों से लगाकर—अंगरखे में रख लिया।

अंगूरी का मुंह गर्दन तक लाल हो उठा।

युवक ने दूसरे ही दिन वहीं जागीरदार के यहां नौकरी कर ली। नाम बतलाया अपना—नरसिंह।

और अंगूरी ने भी यह सुना, देखा भी और प्रसन्न भी हुई, डरी भी, घबराई भी।

दिन बीतने लगे। युवक नरसिंह गढ़पति का अन्यतम विश्वास-पात्र बन गया।

सुन्दर, हंसमुख, बहादुर...सब ही कुछ तो था।

पर, हां, गढ़ में उसकी आंखें मानों छिपे-छिपे कुछ खोजा करती थीं। और शायद कभी-कभी कुछ पा भी जाती थीं।

गांव में मेला होता था हर साल, गांव के देवता बाबा माईदास का।

उस मेले में—

उल्लास, हंसी, चमकदार ओढ़ने...सब ही तो मिलता था।

अंगूरी भी गई थी। सखियों के साथ। बाँदियों से घिरी हुई।

नरसिंह भी था।

दोनों मिल नहीं सकते थे, पर आँखों को तो कोई नहीं रोक सका है।

उसी दिन तो—

राजस्थान में आंधी आना तो कोई बात ही नहीं है। रेत का बवण्डर उठा कि बस......

उस दिन ऐसी ही आंधी आई थी।

उस धुआँधार रेत में अङ्गूरी बेचैन इधर-उधर भटकने लगी। कुछ दीखता ही न था। चिल्लाने से आवाज़ को हवा होठों पर से ही उड़ा ले जाती थी।

और तब—अपने पास ही—टकराकर उसने देखा नरसिंह को।

फिर—

दोनों भूल गये आंधी को, तूफान को, मेले को, घर को··· दुनिया।

अंगूरी को होश आया तो शाम हो चुकी थी और झड़बेरी के बन में वह नरसिंह की गोद में······।

हड़बड़ाकर वह उठी।

आंधी कब की खत्म हो चुकी थी। उसकी डरी आंखों ने नरसिंह से पूछा, "अब?"

पिता का क्रोध, नरसिंह का साथ, दोनों का घण्टों ग़ायब रहना ...ओह!

न जाने महल में क्या आफ़त हो रही होगी?

नरसिंह ने हँसकर कहा, "अब लौट तो सकते ही नहीं।"

"फिर?"—अंगूरी की आवाज़ सहमी हुई थी।

"चलो हम दोनों कहीं चल दें।"

नरसिंह ने उसके नर्म-नर्म हाथ अपने हाथों में ले लिये।

अंगूरी ने अटकते हुए कहा, "पिताजी...!"

"सो ही तो," नरसिंह ने कहा, "हमारे लौट जाने पर तो···।'

अंगूरी सिहर उठी। लौटने पर·····पिताजी का क्रोध। न, न, लौट तो सकते ही नहीं थे।

किसी तरह भी नहीं।

अंगूरी ने नरसिंह के गले में हाथ डाल दिया और रो दी।

ओह! वे कहां जायंगे? और मां का क्या हाल होगा?

पर लौटने पर तो शायद···!

सहसा—दूर पर कुछ खड़का।

अंगूरी ने चौंककर कहा, "जल्दी चलो। ऐसा न हो कि कहीं······।"

अंधेरे में दोनों चल दिये। पर ऊबड़-खाबड़ रास्ता, पत्थरों के ढोंके; अंगूरी तो तेज़ न चल सकती थी। फिर भी वह भरसक तेज़ चलने की कोशिश करती थी।

"आह·········!"

अंगूरी के पैर में ठोकर लगी, एक बड़े पत्थर से अब···। चलने की कोशिश की, मगर पांव में सख्त दर्द।

"तुम जाओ," उसने कहा, "मैं तो न चल सकूंगी। शायद मुझे पिताजी अकेला पाकर···।"

"न," बात काटकर नरसिंह ने कहा, "तुम्हें छोड़कर जाऊं! यह नहीं होगा अंगूरी।" और उसने फूल-सी अंगूरी को गोद में उठा लिया।

अंगूरी भूल गई अपना दर्द, दोनों का खतरा···सब कुछ। केवल वह चौड़ा कन्धा, वे बाहें···!

सहसा उसने सुनी आदमियों की आवाज़।

नरसिंह एकमन होकर आगे बढ़ रहा था। पर—

एक मोड़ पर आकर, सहसा पेड़ के बराबर से कई मशालें निकल आईं।

नरसिंह अकचकाकर खड़ा होगया।

सामने गढ़पति मय कुछ सैनिकों के खड़े थे।

भय से कांपती अंगूरी को नरसिंह ने उतार दिया और···

"कायर, बदमाश," गढ़पति ने गर्जकर कहा, "तेरी यह

हिम्मत !"

धीरे से नरसिंह ने कहा, "मैं आपकी कन्या से प्रेम करता हूं।"

गढ़पति तड़प उठे, "तू ! तू···," उन्होंने तलवार निकाल ली।

नरसिंह अविचल था।

"मैं अंगूरी से विवाह करना···।"

"बस चुप रह कमीने, कुत्ते," गढ़पति ने चीखकर कहा, "नहीं तो···।"

अंगूरी ने देखा नरसिंह की आंखें चमक रही थीं। उसने कहा, "मैं राजपूत हूं, आप यह न भूलें।"

गढ़पति तलवार खींचकर आगे बढ़े।

नरसिंह ने अंगूरी की ओर देखा। उसकी आंखें चमक रही थीं, मुंह तमतमा रहा था।

वह मुस्कराये। उन्होंने तलवार निकाल ली।

अंगूरी मानो अपना दर्द भूल गई।

लपककर वह नरसिंह के बराबर जा खड़ी हुई।

"पिताजी," उसने संयत स्वर में कहा, "यह मेरे पति···"

"चुप रह, कमबख्त नहीं तो···।"

गढ़पति और नरसिंह की तलवारें उठीं। सहसा गढ़पति बोले, "तुझसे युद्ध करना मेरी शान के खिलाफ़ है। तू अपराधी है, सिपाहियो, पकड़ लो।"

नरसिंह के कान सनसनाने लगे। ओह ! इतना अपमान !

अंगूरी ठक से रह गई। हाय !

फिर भूखे बाघ की तरह नरसिंह उन सिपाहियों पर टूटे। पर—एक की दवा, दो···तीन, चार···।

नरसिंह आहत होकर गिर पड़े।

अंगूरी भूल गई सब कुछ। मानों उसके हृदय में ही चोट लगी हो।

नरसिंह से लिपटकर वह···।

पर गढ़पति तो क्रोध से दीवाने थे।

उनके सामने ही···!

नरसिंह ने कहा, "अंगूरी, प्रिये!"

अंगूरी ने झुककर कहा, "नाथ!"

"मैं राजपूत हूं," नरसिंह ने गढ़पति से कहा, "और आपने आज राजपूत का अपमान किया है। एक दिन यह गढ़···।"

उनका गला रुंध गया। अंगूरी ने उनके गले से लिपटकर कहा, "यह गढ़ धूल में मिल जायेगा। याद रखिएगा पिताजी।"

गढ़पति की तलवार झुक गई।

* * * *

दूसरे दिन चिता पर नरसिंह को गोद में रखे अंगूरी बैठी थी।

लाल-लाल लपटें···शान्त बैठी हुई अंगूरी···पूरा लाल-लाल डूबता सूर्य···।

* * * *

आज भी सती का मठ मौजूद है उस विशालकाय खण्डहर गढ़ के सामने।

और वह गढ़—वह सात आंगनों का महल—आज खण्डहर है सती का वचन·········!

प्रेम की ढाल

सूरजसिंह—लेफ्टिनेंट सूरजसिंह—ने एक बार मुड़कर अपने कप्तान से हाथ मिलाया। कप्तान ने धीरे से कहा—"गुडलक" और सूरजसिंह खाई से बाहर था।

हवा के भीषण झोंके ने उसे मानो एक थप्पड़-सा लगा दिया। चमड़े की जैकेट में भी वह तीखी हवा घुस गई। सूरजसिंह को लगा मानो वह बर्फ के तूफान में छोड़ दिया गया हो।

वह झुका खड़ा था और चारों ओर आंखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। घना अंधेरा था, मानो पृथ्वी पर किसी ने एकदम कालिख उंडेल दी हो और सारा संसार उसमें डूब गया हो।

दूर आकाश था कि नहीं निश्चय से कह सकना कठिन था। बादल छाये हुए थे। यदि बादल न होते तो शायद सूरजसिंह को यह भयानक काम न दिया जाता। तारों का प्रकाश भी उसके लिए खतरनाक था।

अराकान के मोर्चे पर उस दिन की वह एक विशेष रूप से भयावनी रात थी। सूरजसिंह को शत्रु की स्थिति का भले प्रकार ज्ञान करा दिया गया था और उसने भी मानो सारी बातें घोख ली थीं।

सूरजसिंह जवान था। लेफ्टिनेंट जवान ही होते हैं। इसी कारण उसमें साहस था और थी अवसर-बुद्धि। फिर यह काम कर डालने

के लिए उसके सिवा और कौन तैयार होता ?

बात यह थी कि सामने ही कहीं शत्रु का कोई पिलबौक्स था, जहां से लगातार गोलाबारी होती थी। बड़ी चेष्टा की गई कि वह नष्ट किया जा सके पर सब बेकार हुई।

इसी कारण हारकर यह सोचा गया कि कोई एक आदमी जान हथेली में लेकर जाय और खोज लगाकर वहां बम छिपा आये। फिर वापस आने पर फ़्यूज में आग लगा दी जाय।

पिलबौक्स दूर न था। शत्रु का मोर्चा सामने ही था। मगर वहां तक जाकर पिलबौक्स के पास गोला छिपा आना मौत से खेलना था और मौत से खेलने वाले बिरले ही होते हैं।

सूरजसिंह उनमें से ही था। जब उसकी टुकड़ी के कप्तान ने कहा कि इस काम के लिए वालंटियर चाहिए तब वह तुरन्त ही तैयार हो गया।

यह बात नहीं कि वह मरना चाहता हो या उसे जीवन का कोई मोह न हो। नहीं, उसके जीवन का मोह—सबसे बड़ा मोह—थी सैकड़ों मील बैठी रत्ना। रत्ना ही उसका सारा संसार थी। उसी के कारण वह युद्ध में आया था। उसे खूब आराम से रखने के लिए। वह मरकर भी रत्ना को सुख देना चाहता था।

तो रत्ना ने ही चलते समय आंसुओं भरे गले से कहा था, "मेरा प्रेम तुम्हें सदा बचायेगा। तुम्हें मारने वाली गोली लौटकर मारनेवाले के ही लगेगी।"

और न जाने क्यों सूरजसिंह को इस बात पर विश्वास हो गया था। उसका बाल भी बांका कर सकना असम्भव था। इस विश्वास की तार्किक दृष्टि से हँसी उड़ाई जा सकती है, पर जीवन की सारी

बातें तर्क के अनुकूल हों, यही क्यों सत्य है ?

खैर, तो सूरजसिंह ने अपने आपको वालंटियर कर दिया।

और उस रात को हवा, बादल, ठण्ड सबने मिलकर मौसम ऐसा कर दिया था जैसा कि इस भयानक कार्य के लिए उपयुक्त था। कप्तान ने सूरजसिंह को डाइनमाइट दिया, फ्यूज दिया और खाई के सिरे पर आकर विदा कर दिया।

अंधेरे में खाई से निकल कर सूरजसिंह ने चारों ओर देखा—कहीं भी कुछ नहीं दीखता था। उसे स्वयं अपना हाथ नहीं दीख रहा था। चारों ओर के घने अंधियारे ने अपनी गोद में उसे छिपा रखने की पूरी तैयारी की थी।

हाथ में बंधे कम्पास को देखकर वह धीरे-धीरे शत्रु की लाइन की ओर खिसकने लगा। खिसककर वह अपनी लाइन के सामने बंधे तारों तक पहुंचा। अंधेरे में जब उसको कांटे गड़े तभी उसे उनका पता चला।

तीखे काँटों के दर्द को चुपचाप पीकर उसने दो मिनट सोचा। यदि वह ठीक सीध में चला आया है तो उसके बांईं ओर थोड़ी दूर पर उन तारों के नीचे रेंगकर निकल जाने की राह होनी चाहिए। लेकिन अगर वह जरा भी बहक गया है तो सारी रात टटोलने पर भी राह मिल सकनी असम्भव थी।

मगर वह बहका नहीं था, ऐसा उसे विश्वास था।

झाड़ियों से ढकी तार की लाइन के नीचे टटोल-टटोलकर बांयें को बढ़ना भी आसान थोड़े ही था। चमड़े के दस्तानों में होकर ठण्ड उंगलियों को सुन्न कर रही थी। बैठे-बैठे रेंगने के कारण जोड़ दर्द करने लगे। शरीर में, मुंह पर जहां-तहां कांटे छिद जाते थे और

...ा सांपों का था। अराकान के वे भयानक सांप के लिए ...ों काटा पानी भी नहीं मांगता।

चलते-चलते उसे राह मिल गई। पहले से ही खोदकर यह राह बना दी गई थी।

धीरे-धीरे उस कीचड़, मिट्टी में से होकर वह रेंगने लगा। एकदम सतर बनकर खिसकना था। तनिक भी ऊपर उठने या मुड़ने पर वे कांटे मानो चुभ जाने को तत्पर थे। पन्द्रह गज़ की राह सूरजसिंह के लिए मीलों जैसी बन गई। बर्फ जैसे सुन्न शरीर को खींचना कितना कठिन है, इसका अनुमान वे ही लगा सकते हैं जिन पर यह कभी बीता है।

आखिर तार समाप्त हो गये। उसने हाथ ऊपर को करके देखा, कांटे न थे। थोड़ा-सा और रेंगकर वह धीरे-धीरे उठ बैठा।

अब वह संसार में एकदम अकेला था—शत्रु के और अपनी लाइन के बीच के मैदान में।

उस भयानक सर्दी में दांतों को बजने से रोकना भी एक भारी काम था। पर सर्दी—उसने अपनी पतलून की जेब से फ्लास्क निकालकर 'रम' के दो-चार घूंटें भरे। तीखी शराब गले को जलाती हुई उतर गई और बाद में उठनेवाली खांसी को रोकने में उसकी आंखों में पानी भर आया।

वह आगे बढ़ा।

मगर न जाने कुछ दूर चलकर उसे ऐसा लगा कि शायद वह राह से कुछ बहक गया है। यह घबरा देने वाली बात थी और उसने रुककर कम्पास देखना चाहा, पर एकबारगी मानो दिल धड़ककर रुक गया। कम्पास रेंगने में ही कहीं टूट गया था। कब? इसका ध्यान

भी उसे न था।

नाव की पतवार टूट गई थी। एक बार मन में आया कि वह लौट चले, मगर किधर? यदि वह राह भूल गया है तो वापस लौटना किधर हो और आगे ही किधर जाना है?

चुपचाप बैठकर वह चारों ओर आंखें फाड़ने लगा। सर्दी से थरथरी चढ़ने लगी।

सहसा ही सामने एक ओर से आसमान में एक फ्लेयर फटा और सारे मैदान में प्रकाश हो गया। फ्लेयर की पहली चमक पर ही धड़ से सूरजसिंह पृथ्वी पर पड़ गया—दम रोककर।

साथ ही तड़-तड़ कर गोलियां चारों ओर पड़ने लगीं।

दो मिनट बाद फिर अंधेरे ने उसे छिपा लिया।

अब उसे शत्रु की लाइन का पता चल गया था। उनके निरीक्षण-स्थान का भी कुछ अन्दाज़ हो गया था। साथ ही यह भी डर हो गया था कि अभी और भी फ्लेयर छूटेंगे।

वह रेंगकर आगे बढ़ने लगा—पेट के बल। शरीर न जाने कितने मन का हो रहा था। हाथ-पांव थककर चूर हो गये, छिल गये। जोड़-जोड़ दर्द करने लगा। मगर वह रेंगता रहा—रेंगता रहा।

सहसा घास की एक छोटी-सी झाड़ी के पास पाकर वह दम लेने लगा।

फिर एक फ्लेयर उठा। फिर गोलियां चलीं। उसके ठीक कान के पास गोली आ पड़ी, जिससे मिट्टी उड़कर उसके मुंह पर आ पड़ी।

मगर अब वह शत्रु के बिलकुल पास था। सामने ही शत्रु के तार थे। वहीं बाईं ओर हटकर पिलबौक्स होने का शक था।

चुपचाप लेटकर वह दूसरे फ्लेयर की राह देखने लगा। सर्दी फिर अपना हमला करने लगी। अब साथ ही साथ कुछ फुहारें भी प्रारम्भ हो गई थीं। सूरजसिंह को लगने लगा कि इस ठंड में शायद निमोनिया से मौत हो ही जायगी।

अब की बार फ्लेयर के प्रकाश में उसने ध्यान से देखा बाईं ओर झाड़ियां कुछ घनी थीं। कुछ बेतरतीब भी। उसे लगा कि हो न हो इन्हीं के पीछे वह पिलबौक्स होगा।

वह आगे बढ़ा।

झाड़ियों के पास पहुँचकर अब उनके भीतर जाना था, डाइनामाइट रखना था और वापिस होना था।

झाड़ियों में जाना मौत से खेलना था। तनिक भी आहट होने पर······मौत!

धीरे से उसने झाड़ियों को छुआ। कांटे थे, भयानक कांटे।

उसने घड़ी देखी। रात के दो बजे थे।

धीरे-धीरे एक-एक टहनी हटाकर, एक-एक इञ्च बढ़कर वह झाड़ियों में रेंगने लगा। रेंगता रहा······कांटे चुभते रहे।

उसे बेहोशी-सी आ रही थी। मगर पूरी शक्ति से आखें खोल-कर उसने देखा—पिलबौक्स अंधेरे में भयानक भूत-सा।

और भूत की भांति जाकर उसने डाइनामाइट लगा दिया। फ्यूज बांध दिया। पिलबौक्स के लोग बेखबर थे। शायद इस भयानक मौसम में उन्हें खतरे का भय न था।।

फिर वापिस! वही मौत के समान लम्बी राह। वही कांटे। ठण्ड, बारिश, अंधेरा।

सूरजसिंह के अङ्ग जवाब दे रहे थे। पर रुकने का मतलब

था मौत। वह बढ़ता रहा।

बीच में आकर वह रुक गया, रह गया।. अब रेंगना असम्भव था। शरीर जवाब दे चुका था।

उसने एक बार रत्ना का ध्यान किया। बेचारी! शायद उसका प्रेम अब सहायता न कर सके। फ्यूज में आग लगाने के बाद दुश्मन की गोलियों से, धधकते प्रकाश में, बच पाना असम्भव होगा।

पर लाचारी थी। एक बार मन पक्का किया सब कुछ छोड़-छाड़ कर···मगर जाय कहां? कैसे?

रत्ना को क्या पता होगा? शायद एक चिट्ठी भर मिल जाएगी, कुछ दिन बाद। और बस। शायद पेंशन भी मिले।

उसने एक बार साहस करके फ्यूज जला दिया और संसार से आंखें बन्द करके, कानों में उंगली देकर पड़ रहा।

फ्यूज की चिनगारी सरसराकर दौड़ गई।

वह धड़ाके की और समाप्ति की राह देखने लगा।

सहसा धड़ाका हुआ। धरती-आकाश कांप उठे।

सूरजसिंह बेहोश हो गया, मानो वह धमाका ही उसे समाप्त कर गया।

* * * *

जब आंख खुली तब सवेरा होगया था। वह साथियों में था। कप्तान और डाक्टर उसके पास बैठे थे।

"अब कैसी तबीयत है?" कप्तान ने पूछा।

"पर·····?" सूरजसिंह ने पूछा आश्चर्य से। "पर सब क्या है?"

कप्तान ने मुस्कराकर कहा, "पिलबौक्स के उड़ते ही हमने हमला

कर दिया और सफल हो गये। तुम्हारी बहादुरी के बदले में...?"

पर सूरजसिंह ने आंखें बन्द कर ली थीं। रत्ना का मुख उसके सामने मुस्करा रहा था, "मेरा प्रेम सदा तुम्हारी रक्षा करेगा।"